सन्मति साहित्य रत्न माला का ६१ वाँ रत्न

महामंत्र नवकार

उपाध्याय अमर मुनि

प्रकाशक

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी

मानवजीवन में नमस्कार को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। मनुष्य के हृदय की कोमलता समरसता गुणग्राहकता एवं भावकता का पता तभी लगता है जब कि वह अपने से श्रेष्ठ एवं पवित्र महान् आत्माओं को भक्ति-भाव से गद्गद् होकर नमस्कार करता है गुणी के समक्ष अपनी अहंता का त्याग कर गुणी के चरणों में अपने आपको सर्वतोभावेन अर्पण कर देता है।

आज तर्क का युग है। प्रश्न किया जाता है कि महान् आत्माओं को केवल नमस्कार करने और उनका नाम लेने से क्या लाभ है? अरिहन्त आदि क्या कर सकते हैं?

प्रश्न उचित है सामयिक है। उत्तर पर विचार करना चाहिए। हम कब कहते हैं कि अरिहन्त सिद्ध आदि वीतराग हमारे लिए कुछ करते हैं? उनका हमारे विकल्पों से कोई सम्बन्ध रहा है। जो कुछ भी करना है हमें ही करना है। परन्तु आलम्बन की तो आवश्यकता होती ही है। पाँच पद हमारे लिए आलम्बन हैं आदर्श हैं लक्ष्य हैं। उन तक पहुँचना उन जैसी अपनी आत्मा को भी विकसित करना—हमारा अपना आध्यात्मिक ध्येय है। कर्तृत्व का अर्थ स्थूलदृष्टि से स्वयं हाथ पर मारना ही नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्र में निमित्तमात्र से ही कर्तृत्व आ जाता है।

हैं। जिन अन्तरंगशत्रुओं के कारण बाह्य भूमिका में अनेक प्रपंच खड़े होते हैं, दुःख और क्लेश के मेघ छा जाते हैं, उन काम, क्रोध, मद, लोभ, राग, द्वेष आदि पर पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले और अहिंसा एवं शान्ति के अथाह असीम सागर अरिहन्त को भगवान् कहते हैं।

सिद्ध—पूर्ण परमात्मा। जो महान आत्मा कर्म मल से सर्वथा मुक्त होकर जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छुटकारा पाकर अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, वे सिद्ध पद से सम्बोधित होते हैं। सिद्ध होने के लिए पहले अरिहन्त की भूमिका तय करनी होती है। अरिहन्त हुए बिना सिद्ध नहीं बना जा सकता। लोक भाषा में देहधारी जीवन्मुक्त अरिहन्त होते हैं और देहमुक्त सिद्ध।

आचार्य—आचार्य का तीसरा पद है। जैन धर्म में आचरण का बहुत बड़ा महत्त्व है। पद-पद पर सदाचार के मार्ग पर ध्यान रखना ही जैन साधक की श्रेष्ठता का प्रमाण है। अस्तु, जो आचार का, संयम का स्वयं पालन करते हैं और संघ का नेतृत्व करते हुए दूसरों से पालन करवाते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। जैन-आचार साधना के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच मुख्य अंग हैं। आचार्य को इन पाँचों महाव्रतों का प्राणपण से स्वयं पालन करना होता है और दूसरे भव्य प्राणियों को भी भूल होने पर उचित प्रायश्चित्त आदि देकर सत्पथ पर अग्रसर करना होता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—

यह चतुर्विध संघ है। इसको आध्यात्मिक-साधना के नेतृत्व का भार आचार्य पर होता है।

उपाध्याय—जीवन में विवेक विज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। भेद विज्ञान के द्वारा जड़ और चेतन के पृथक्करण का ज्ञान होने पर ही साधक अपना उच्च एवं आदर्श जीवन बना सकता है। अतः आध्यात्मिक विद्या के शिक्षण का भार उपाध्याय पर है। उपाध्याय मानव जीवन की अन्त प्रक्रिया को बड़ी सूक्ष्म पद्धति से सुलझाते हैं और अनादि काल से अज्ञान अन्धकार में भटकते हुए भव्य प्राणियों को विवेक का प्रकाश देते हैं।

साधु—साधु का अर्थ है आत्मा की साधना करने वाला साधक। प्रत्येक व्यक्ति सिद्धि की खोज में है परन्तु आत्मा की सिद्धि की ओर किसी विरले ही महानुभाव का लक्ष्य जाता है। सांसारिक वासनाओं का त्याग कर जो पांच इन्द्रियों को अपने वश में रखते हैं ब्रह्मचर्य की नव बाड़ों की रक्षा करते हैं—क्रोध मान माया लोभ पर विजय पाने के लिए सतर्क रहते हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रत पालते हैं—पांच समिति और तीन गुप्तियों की सम्यक्तया आराधना करते हैं—ज्ञानाचार दर्शनाचार चारित्राचार तपाचार वीर्याचार—इन पांच आचारों के पालन में निरन्तर संलग्न रहते हैं उन्हें परिभाषा के अनुसार साधु कहा जाता है।

यह साधु पद मूल है। आचार्य उपाध्याय और अरिहन्त—तीनों का इसी साधु पद में विकास होता है। साधुत्व के अभाव में उक्त तीनों पदों की भूमिका पर कदापि नहीं पहुँचा जा सकता।

पंचम पद में 'लोए' और 'सव्व' दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। जैन धर्म का समभाव यहाँ पूर्ण रूप से परिस्फुट हो गया है। द्रव्य-साधुता के लिए भले ही साम्प्रदायिक दृष्टि से नियत किसी वेष आदि का बन्धन हो, परन्तु भाव साधुता के लिए अन्तरंग की उज्ज्वलता के सिवा किसी भी बाह्य रूप का प्रतिबंध नहीं है। यह संसार में कहीं भी जिस किसी भी व्यक्ति के पास हो, वह अभिवन्दनीय है। नमस्कार हो लोक में—संसार में जिस किसी भी रूप में जो भी भाव-साधु हों उन सब को। कितना दीप्तिमान् महान् आदर्श है!

पांचों पदों में प्रारम्भ के दो पद देवकोटि में आते हैं और अन्तिम तीन पद—आचार्य, उपाध्याय, साधु गुरुकोटि में। आचार्य, उपाध्याय और साधु—तीनों अभी साधक ही हैं, आत्म विकास की अपूर्ण अवस्था में ही हैं। अतः अपने से निम्न श्रेणी के श्रावक आदि साधकों के पूज्य और उच्च श्रेणी के अरिहन्त आदि देवत्व के पूजक होने से गुरु-तत्त्व की कोटि में हैं। परन्तु अरिहन्त और सिद्ध तो जीवन के अंतिम विकास पद पर पहुँच गए हैं, अतः वे सिद्ध हैं, देव हैं। उनके जीवन में जरा भी राग द्वेष का, प्रमाद का लेश नहीं रहा, अतः उनका पतन नहीं हो सकता। अरिहन्त भी सिद्ध से पूर्ण ही हैं। अनुयोग द्वार सूत्र में उन्हें सिद्ध कहा भी है। अन्तरात्मा की पवित्रता की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल प्रारब्ध कर्मों के भोग का है। देहधारी होने के कारण अरिहन्तों को प्रारब्ध कर्म का भोग रहता है जबकि देहरहित मुक्त सिद्धों को प्रारब्ध कर्म नहीं रहते।

चूलिका में पहले चारों पदों का फल बतलाया है और बाद में मंगल का उत्कर्ष किया है। प्रथम दो पदों में हेतु का उत्कर्ष है तो अंतिम दो पदों में कार्य का फल का कथन है। जब आत्मा पाप कालिमा से पूर्णतया साफ हो जाती है तो फिर सर्वत्र सर्वत्र आत्मा का मंगल-ही मंगल है कल्याण ही कल्याण है। नमस्कार मन्त्र हमें पाप नाश रूप अभावात्मक स्थिति पर ही नहीं पहुँचाता प्रत्युत परम मंगल का विधान करके हमें पूर्ण आशावादी बनाता है भावात्मक स्थिति पर भी पहुँचाता है।

आचार्य जयसेन नमस्कार मंत्र पर विवेचन करते हुए नमस्कार के दो भेद बतलाते हैं। एक द्वैत नमस्कार और दूसरा अद्वैत। जहाँ उपास्य और उपासक में भेद की प्रतीति रहती है मैं उपासना करने वाला हूँ और यह अरिहंत आदि मेरे उपास्य हैं —यह द्वैत बना रहता है वह द्वैत नमस्कार है। और जबकि राग-द्वेष के विकल्प नष्ट हो जाने पर चित्त की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है कि आत्मा अपने आप को ही अपना उपास्य अरिहंत आदि रूप समझता है और केवल स्व स्वरूप का ही ध्यान करता है, वह अद्वैत नमस्कार कहलाता है। दोनों में अद्वैत नमस्कार ही श्रेष्ठ है। द्वैत नमस्कार अद्वैत का साधन मात्र है। प्रथम पहले साधक भेद प्रधान साधना करता है और बाद में ज्यों-ज्यों आगे प्रगति करता है त्यों-त्यों अभेद प्रधान साधक बनता है। पूर्ण अभेद साधना अरिहंत दशा में प्राप्त होता है।

अर्हत नमस्कार की साधना के लिए साधक का निश्चय

नवकार का अनेक नामों से परखायित किया जाता है। इसे नमस्कार मन्त्र भी कहते हैं। इसलिए कि इसमें महापुरुषों को समक्ति नमस्कार किया जाता है। इसे परमेष्टीमन्त्र भी कहते हैं इसलिए कि यह परम उत्कृष्ट स्थिति में पहुँचने वाले महापुरुषों के स्वरूप का भान कराता है और भी कितने ही नाम हैं जिनके विस्तार में जाने का यहाँ स्थान नहीं।

सबसे प्रसिद्ध नाम नवकार ही है। हम इसी के विषय में बताना है कि इसका क्या महत्त्व है ?

नवकार के नव (नौ) पद हैं अत इसे नवकार कहते हैं। भारतीय साहित्य में नव का अंक अक्षय सिद्धि का सूचक माना गया है। दूसरे अंक एक दो तीन चार पाँच आदि अखण्ड नहीं रहते अपने स्वरूप से च्युत हो जाते हैं। परन्तु नव का अंक ही एक ऐसा अंक है जो हमेशा अखण्ड बना रहता है। दूसरे अंकों के साथ मिश्रित होने पर भी कभी अपने निज रूप को नहीं छोड़ता अंतिम रूप में अपने स्वरूप को सबसे अलग व्यक्त कर ही देता है।

उदाहरण के लिए सबप्रथम हम नव अर्थात् नौ के पहाड़े को लेते हैं। आप साथ ही नौ के साथ नव का पहाड़ा गिनते जाइए और

आगे जोड़ लगाते जाइए। आपको सर्वत्र नव का एक ही नप रूप में उपलब्ध होगा—

९ + ९
१८=१ + ८=९
२७=२ + ७=९
३६=३ + ६=९
४५=४ + ५=९
५४=५ + ४=९
६३=६ + ३=९
७२=७ + २=९
८१=८ + १=९
९०=९ + ०=९

आपकी समझ में ठीक तौर से आ गया होगा कि आठ और एक नौ, सात और दो नौ, छह और तीन नौ, पाँच और चार नौ—इस भाँति सब अंकों में गुणाकार के द्वारा नवांक का अखण्ड स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रगट हो जाता है।

दूसरी ओर एक से लेकर आठ तक के जितने भी पहाड़े हैं सब अपने स्वरूप से हट जाते हैं कोई भी अखण्ड रूप में नहीं बचता। गणितशास्त्र की यह साधारण सी प्रक्रिया नव के अंक *की अक्षय स्वरूपता का स्पष्ट परिचय दे देती है।*

यही नहीं और भी अपनी इच्छा के अनुसार संख्यों हजारों लाखों के अंक लिखते जाइए अनुक्रम से जोड़ते जाइए, जहाँ तक

नवांक नव न आवे तब तक का क्रम करते जाइए। जो अंक शेष रहे उन्हें फिर गिनते जाइए और उनको निकालते जाइए, अन्त में शेष नवांक ही आएगा। यह सिद्धान्त पूर्ण सत्य है। उदाहरण पर ध्यान दीजिए—

५३४८	३२३५
२०	१३
५३२८	३२२२=९
१८=९	

देखिए बाईं ओर पाँच हजार तीन सौ अड़तालीस लिखे हुए हैं। इन अंकों को परस्पर में मिलाया तो पाँच तीन चार आठ—बीस हो गए। बीस के अंक को पाँच हजार तीन सौ, अड़तालीस में से कम किया तो शेष पाँच हजार, तीन सौ अट्ठाईस रह गए। अब इन को गिना गया तो पाँच तीन दो आठ—अट्ठारह हो गए। बस अट्ठारह के अंक को एक और आठ के रूप में मिलाया गया तो नौ का अंक ही शेष आया। यही पद्धति दाहिनी ओर के अंकों के सम्बन्ध में भी है।

नवांक के अक्षय रूप का यह मात्र साधारण-सा परिचय है। कितनी ही विशाल संख्या में अंक रख कर गणित करिए आप को सब जगह नौ का अंक ही शेष रूप में सुरक्षित मिलेगा। यह कभी भी लुप्त नहीं होगा। नवकारमन्त्र में नव पद का गौरव भी इसी अक्षय रूप का संकेत है।

जो मनुष्य श्रद्धा के साथ नवकार का जप करते रहते हैं उनको किसी प्रकार की कमी नहीं रह सकती। जो कुछ भी

कमी है श्रद्धा की है। श्रद्धा का वेग बढ़ाइए चौदह पूर्व का सार अन्तर्हृदय में उतारिए फिर देखिए संसार की समस्त ऋद्धि सिद्धि आपके चरणों में किस भाँति दौड़ी दौड़ी आती है। आपकी अन्तरंग की दुनियाँ भी अक्षय अखण्ड रहेगी और बाहर की दुनियाँ भी। नवकार का मयांक आपको प्रत्येक उन्नति की दिशा में अक्षय एवं अखण्ड पद पर पहुँचाएगा।

• •

है। वैष्णव समाज में कुछ पंथ इसे ईश्वर का वाचक मानते हैं कुछ ब्रह्मा विष्णु और महेश का वाचक बतलाते हैं। कुछ लोग अध ऊर्ध्व और मध्य लोक का वाचक कह कर विश्व ब्रह्माण्ड के लिए इस का उपयोग करते हैं। परन्तु जैन धर्म की इस सम्बन्ध में भिन्न ही धारणा है। हमारी मान्यता के अनुसार यह पंच परमेष्ठी यानी नवकार का ही संक्षिप्त संस्करण है। समूचे नवकार का ओम् में समावेश हो जाता है। जरा ध्यान के साथ नवकार मन्त्रगत पंचपरमेष्ठी के प्रथमाक्षरों से मिल कर बनने वाले ओम्कार का स्वरूप देखिए —

अरिहंत का	अ
सिद्ध (सिद्ध का दूसरा नाम अशरीरी भी होता है इसलिए) अशरीरी का	अ
आचार्य का	आ
उपाध्याय का	उ
साधु (साधु का दूसरा नाम मुनि भी है इसलिए) मुनि का	म्

अब जरा व्याकरण के द्वारा संधि करें। अ+अ=आ आ+आ=आ आ+उ=ओ और मुनि का म् मिलकर ओम् बन जाता है। जैनधर्म में ओम् की आकृति 'ॐ' इस प्रकार मानी जाती है।

हाँ एक बात और ध्यान में रखिए। ओम् के ऊपर जो चन्द्र बिन्दु है उसका अभिप्राय यह माना जाता है कि अर्धचन्द्र सिद्ध

शिला का प्रतीक है और बिन्दु सिद्ध का। अत उक्त कल्पना का यह भाव है कि ओंकार के जप के द्वारा देव और गुरु दोनों का शुद्ध हृदय से स्मरण करता हुआ साधक अन्त मे सिद्ध-स्वरूप को पा लेता है।

नवकार महामंत्र का यह लघु और संक्षिप्त पाठ है। प्रत्येक पद का प्रथम अक्षर अ सि आ उ और सा के मेल से इसका निर्माण हुआ है। मंत्र साहित्य में इस प्रकार के संक्षिप्त मंत्रों को बीजाक्षर मंत्र कहते हैं।

जैन समाज में नवकार के इस संस्करण का भी बहुत अधिक प्रचलन है। यह अनेक सिद्धियों को देने वाला और आपत्तिकाल में हर प्रकार की सहायता पहुँचाने वाला महाप्रभावी मंत्र है। यह प्राचीन किंवदन्ती है कि भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा इसका निर्माण हुआ है। कमठ तपस्वी की धूनी में जब नाग नागिन जल रहे थे तब भगवान् पार्श्वनाथ ने अ सि आ-उ-सा का मंत्र सुना कर ही उनका उद्धार किया था। नाग-नागिन ने इस मंत्र पर पूरा विश्वास किया था और इसके बल से नागकुमार देवताओं के अधिपति इन्द्र और इन्द्राणी बने थे। भगवान् पार्श्वनाथ के मुख से पढ़ा हुआ होने के कारण यह अतीव पवित्र एवं प्रभावशाली मंत्र है।

उक्त मंत्र के ध्यान का भी एक विशेष प्रकार है। यदि उस ढंग से जप किया जाए तो विशेष लाभप्रद होता है। प्रथम अक्षर

होना चाहिए। माला की प्रतिष्ठा में ही मन्त्र की प्रतिष्ठा निहित है।

माला सूत मूगा और चन्दन आदि किसी भी विशुद्ध अचित्त पदार्थ की ली जा सकती है। बहुत से लोग सौंदर्य की दृष्टि से रंग बिरंगी माला बना लेते हैं पर यह ठीक नहीं। माला जो भी हो एक ही रंग की हो। यह भी ध्यान रखें कि एक चीज की माला में दूसरी चीज न लगाई जाय। माला के दाने छोटे-बड़े न हों। माला में एक सौ आठ दाने ही होने चाहिए। न कम न अधिक। माला में एक सौ आठ दाने नवकार मन्त्रोक्त पंच परमेष्ठी पदों के एक सौ आठ गुणों के द्योतक हैं।

माला फेरते समय न स्वयं हिलना चाहिए न माला को ही हिलाना चाहिए। माला को अधर रखना चाहिए यह नहीं कि वह नीचे जमीन पर पड़ी रहे। परों का स्पर्श भी माला को न होना चाहिए। माला फेरने से पहले माला के सूत्र का ध्यान में रख लेना चाहिए कि वह मजबूत है या नहीं। ऐसा न हो कि फेरते समय बीच में टूट जाय। यदि कभी टूटने का प्रसंग हो हो जाय तो गुरुदेव से विधिवत् प्रायश्चित्त करना चाहिए। माला को ढीली अंगुलियों से भी नहीं पकड़ना चाहिए ताकि बीच बीच में हाथ से छूट छूट कर गिरती रहे। जप करते समय माला का हाथ से गिर जाना अच्छा नहीं होता। अंगुष्ठ और मध्यमा या अनामिका के द्वारा ही जप होना चाहिए। तर्जनी से माला का जप करना निषिद्ध है। माला फेरते समय दानों को नख
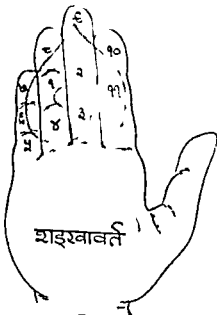
मध्य अनामिका का मूल कनिष्ठिका का मूल मध्य अग्र अनामिका का अग्र मध्यमा का अग्र तर्जनी का अग्र मध्य और मूल मध्यमा का मूल ।

तीसरा आम् आवर्त है। इस की प्रक्रिया भी खास ध्यान देने योग्य है। सब प्रथम मध्यमा का मध्य पर्व। इसके पश्चात् क्रमशः अनामिका का मध्य अनामिका का अग्र मध्यमा का अग्र तर्जनी

३

का अग्र मध्य और मूल मध्यमा का मूल अनामिका का मूल फिर कनिष्ठिका का मूल मध्य और अंतिम पर्व।

चौथा ह्रीं आवर्त है। इसका जप इस प्रकार होता है—सर्व प्रथम तर्जनी का अग्र पर्व। तदनन्तर क्रमशः मध्यमा का अग्र अनामिका का अग्र कनिष्ठिका का अग्र और मध्य अनामिका का
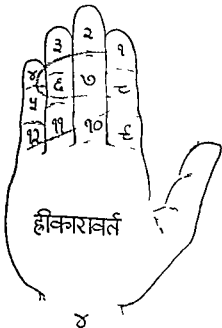
मध्य, मध्यमा का मध्य, तर्जनी का मध्य और मूल, मध्यमा का मूल, अनामिका का मूल, कनिष्ठिका का मूल।

पाँचवा नन्दावर्त है। इसमें कनिष्ठिका को बिल्कुल ही छोड़ दिया गया है। शेष तीन अंगुलियों पर ही जप किया जाता है। जैसे कि सर्वप्रथम तर्जनी का अग्र पर्व। तत्पश्चात् क्रमशः तर्जनी

नन्दावर्त

५

का मध्य और शून्य, मध्यमा का मूल, अनामिका का मूल मध्य और अग्र, मध्यमा का अग्र और मध्य पर्व।

प्रथम के चार आवर्त—आवर्त, नन्दावर्त, शंखावर्त और ह्रीं आवर्त में एक बार के जप की संख्या बारह होती है। अतः नौ बार करने से चारों आवर्तों से एक सौ आठ संख्या की पूरी माला हो जाती है। परन्तु नन्द्यावर्त में एक बार के जप की संख्या नौ होती है। अतः बारह बार आवर्तन करने से माला पूर्ण हो जाती है।

प्राचीन आचार्यों ने पाँचों आवर्तों से जप करने के फल भी अलग अलग बताए हैं। प्रथम साधारण आवर्त शान्ति, तुष्टि एवं पुष्टि का देने वाला है। दूसरा नन्दावर्त आधिदैविक आदि की पीड़ा को दूर करता है, मन कामना शीघ्र पूर्ण होती है, शान्ति मिलती है। तीसरा शंख आवर्त अद्भुत चमत्कारी है। इसके जप से समस्त आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं, आत्मा में अलौकिक सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। चौथा ह्रीं आवर्त रोगादि दूर करने वाला है, सम्मान बढ़ाने वाला है। पाँचवाँ नन्द्यावर्त तो नाम से ही आनन्द मंगलकारी होने की सूचना देता है। यह लाभ आदि की विचार धारा संसारी कामना वालों के लिए है। आध्यात्मिक प्रेमी सज्जनों के लिए तो संसार का स्वार्थ कुछ होना ही नहीं। उनकी तो भावना आत्म शुद्धि की ही होती है। अतः उनके लिए तो प्रत्येक आवर्त आदरणीय है। वे किसी भी एक आवर्त का स्वीकार करके आत्मशुद्धि पा सकते हैं।

आवर्त यानी कर माला में जप करते समय अंगुलियाँ अलग अलग नहीं होनी चाहिए। इतनी थोड़ी-सी मुट्ठी रखनी चाहिए। हाथ को हृदय के सामने लाकर अंगुलियों को कुछ टेढ़ी करके जहाँ तक हो सके वस्त्र से ढक कर दाहिने हाथ में ही जप करना चाहिए।

आवर्त की प्रणाली बड़ी गंभीर है। इसमें जरा-सी अभाव बाकी नहीं रहनी चाहिए। जो सज्जन आवर्त से जप करेंगे उन्हें कुछ ही दिनों में मालूम हो जाएगा कि इस प्रक्रिया में कितना आनन्द आता है?

• •

मन्त्र साधना के लिए शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है। वैसे तो मन (आत्मिक शुद्धि) ही है जो सबसे बड़ी है जिसे शुद्धि की आवश्यकता होती है। मनुष्य को अपने प्रत्येक कार्य में सदा शुद्ध रखना चाहिए। किन्तु जप ध्यान आदि करते समय तो इष्टदेव के स्मरण करने में व मन्त्र साधना में तो इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए। अशुद्धि की दशा में मन्त्र जप करने से मन में ग्लानि का भाव होता है जिससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है।

स्थान शुद्धि—सर्व प्रथम तो जहाँ जप करना हो वह स्थान ही देखना चाहिए कि जप के अनुकूल है या नहीं ? बहुत से लोग कहीं भी गन्दी जगह पर बैठ जाते हैं और माला फेरनी शुरू कर देते हैं। भला जहाँ इधर उधर कूड़ा पड़ा हो, गन्दगी के ढेर लगे हों, बदबू नाक में चढ़ रही हो और मक्खी मच्छर भिनभिना रहे हों वहाँ क्या ध्यान जम सकेगा।

बहुत बार ऐसा देखा गया है कि स्थान तो शुद्ध होता है परन्तु वातावरण शान्त नहीं होता। जहाँ बालक कोलाहल करते रहते हों, मोटर आदि सड़क पर भागते हों तो वह स्थान कितना ही शुद्ध क्यों न हो जप के लिए अनुकूल नहीं है

सकता। अत जिस स्थान पर स्थिरता से बैठने में किसी प्रकार का गड़बड़ अथवा आतंक न हो—अनिष्ट पुरुष मक्खी मच्छर सर्प आदि किसी प्रकार का विघ्न न डाल सकते हों—जहाँ किसी प्रकार की अशुचि एवं घृणा न हो और जो चित्त की एकाग्रता में सहज भाव से साधक हो वही स्थान जप करने के लिए उत्तम माना गया है।

शरीर शुद्धि—जप क्रिया के समय शरीर शुद्धि का होना भी परमावश्यक है। दूषित मल-युक्त एवं अशुचियुक्त शरीर चित्त शुद्धि में सहायक नहीं होता प्रत्युत कभी-कभी तो चित्त में ग्लानि के भाव भर देता है और जप के महत्व को क्षीण कर डालता है। बहुत से सज्जन बिना शरीर शुद्धि की ओर लक्ष्य दिए यों ही अस्त-व्यस्त अशुचि दशा में ही जप करने बैठ जाते हैं और उत्कृष्ट संयमी होने का दम भरने लगते हैं। उन्हें ऊपर की पंक्तियों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। आगम में कभी भी शरीर को गंदा बनाये रखने का विधान नहीं है।

वस्त्र शुद्धि—शरीर शुद्धि के साथ वस्त्रों की शुद्धि भी अवश्य होनी चाहिए मलिन वस्त्र के पहनने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है और न यह त्याग का कोई विशिष्ट चिन्ह ही है। बहुत से सज्जन घर या दुकान से थके स्थान से दौड़ते भागते आते हैं और आते ही उसी गन्दी धोती को पहने जप करने लग जाते हैं। वे यह नहीं सोचते हैं कि भजन के वस्त्र अलग रखें। व्यर्थ ही आलस्य वश प्रभु भजन के समय भी इस गन्दगी को ढोते रहते हैं।

इसके का पालन करना चाहिए। कभी कभी बालक को मुँह से तो भी पानी है यह आमतौर से मुँह का [illegible] निकल जाते हैं। जब तक वह नहीं होती तब तक [illegible] भी नहीं।

९

भोजन

साधना के क्षेत्र में भोजन का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो साधक भोजन के सम्बन्ध में कुछ विचार नहीं रखते जो कुछ सामने आता है झट-पट पेट मे डाल लेते हैं वे कभी भी सफल साधक नहीं हो सकते। भोजन का मन से विशेष सम्बन्ध है। प्राचीन आचार्यों का कहना है कि—'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धि सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति' अर्थात्—जब आहार शुद्ध होता है तब सत्व—अन्तःकरण शुद्ध होता है सत्व के शुद्ध होने पर स्मृति भी स्थिर हो जाती है। प्राचीन शास्त्रों की ही बात नहीं भारतीय लोक-साहित्य मे भी एक कहावत प्रचलित है कि—जैसा खाय अन्न वैसा बने मन।

जो लोग अशुद्ध भोजन करते हैं उनके शरीर में रोग प्राणो म क्षोभ और चित्त म ग्लानि की वृद्धि होती है। ग्लानि से चित्त म किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक पवित्रता का उदय नहीं हो सकता। इसके विपरीत जो शुद्ध भोजन करते हैं उनके चित्त के समस्त मल और विक्षेप शीघ्र ही निवृत्त हो जाते हैं।

अन्न का सबसे बड़ा दोष न्यायोपार्जित न होना है। जो पैसा चोरी से, बेईमानी से छल से दूसरों के हक को मार कर पैदा

कि मंत्र जो मंत्र पूर्ण त्यागी वीतरागी तीर्थंकर देवों का कथन किया हुआ है उसकी साधना करने वाले को भी कितना त्यागी विरागी होना चाहिए। अन्य त्याग को चाले सब साधारण गृहस्थ वर्ग नहीं निभा सकता परन्तु भोजन के संबंध में तो उस त्याग वृत्ति का भाव रखना ही चाहिए। मंत्र साधना में चित्त शुद्धि आवश्यक है और चित्त-शुद्धि के लिए भोजन शुद्धि आवश्यक है। अतएव प्रत्येक साधक को इस प्रकरण पर अधिक से अधिक लक्ष्य रखना आवश्यक है।

• •

साधक के जीवन में आसन का स्थान अतीव आवश्यक एवं महत्वपूर्ण माना जाता है। साधक चाहे किसी भी प्रकार की उच्च साधना में आगे क्यों न बढ़ा हो जब तक आसन द्वारा शरीर को साधना के योग्य न बना लेगा और जब तक आसन में सिद्धि प्राप्त नहीं होगा तब तक आगे की साधना के अधिकारी ही नहीं है। क्योंकि जब तक साधक एक स्थिर आसन में दीर्घ समय तक नहीं बैठ सकेगा तब तक न तो उसका मन ही स्थिर होगा और न उससे कोई साधना ही बनेगी। प्रथम शरीर पर पश्चात् मन पर भी विजय पाने के लिए आसन एक सर्वश्रेष्ठ साधन है।

योगशास्त्र में चौरासी प्रकार के आसन लिखे हैं। सभी आसन उत्कृष्ट हैं एवं अपना अलग अलग महत्व रखते हैं। परन्तु साधक वर्ग में कुछ आसन ही अधिक प्रसिद्ध हैं। उन थोड़े से आसनों का अभ्यासी भी सफल साधक हो सकता है ध्यान तथा जप का वास्तविक आनन्द उठा सकता है।

सिद्धासन—बायें पैर की एड़ी से योनि स्थान को दबा कर और एक पैर को जननेन्द्रिय पर रख कर ठुड्डी को हृदय में

जमा ले और देह को सीधा रख कर दोनों भौंहों के बीच में दृष्टि स्थापन करके निश्चल भाव से बैठे। इसे सिद्धासन कहते हैं।

बद्ध पद्मासन—बायीं जांघ पर दाहिना पैर और दाहिनी जांघ पर बायाँ पैर रखकर दोनों हाथों को पीठ की ओर घुमाकर बायें हाथ से बायें पैर का अंगूठा और दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा पकड़ लेना चाहिए और ठुड्डी को छाती में टिकाकर दृष्टि को नाक की नोक पर जमा देना चाहिए। इसी का नाम बद्ध पद्मासन है।

मुक्त पद्मासन—उपर्युक्त नियम से बैठने का बद्ध पद्मासन कहते हैं और हाथों से पैरों के अंगूठे को न पकड़ कर दोनों हाथों को दोनों जंघाओं पर चित्त रखना अथवा दोनों हाथों को नाभि के पास ध्यान मुद्रा में रखना मुक्त पद्मासन कहलाता है।

पर्यङ्कासन—दाहिना पैर बायीं जंघा के नीचे और बायाँ पैर दाहिनी जंघा के नीचे रखा कर बैठना पर्यङ्कासन है। पर्यङ्कासन का दूसरा नाम सुखासन' भी है। सर्वसाधारण इसे पालथी मार कर या चौकड़ी मार कर बैठना भी कहते हैं।

कायोत्सर्गासन—खड़े होकर दोनों भुजाओं को घुटनों की ओर लटका कर बिल्कुल सीधा रखना दोनों पैरों के पंजों के मध्य में न कम और न अधिक मात्र चार अंगुल का अंतर रखना और दोनों एड़ियों के मध्य में चार अंगुल से कुछ कम अंतर रखना कायोत्सर्गासन कहलाता है। इसे जिनमुद्रा भी कहते हैं।

आसन करते समय एक बात पर ध्यान रखने की विशेष

े क्षेत्र में भी कोई सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए जम कर बैठना या स्थिर होना प्रत्येक कार्य सिद्धि का मूल मन्त्र है।

आसनों का काम कुछ साधारण नहीं है। पहली-पहली बार बड़ी कठिनता का सामना करना होता है। ज्यों ही शरीर दुखने लगता है मन उचट जाता है त्यों ही फिर और अधिक बैठना त्रास-दायक मालूम होने लगता है। परन्तु जरा धैर्य रखा जाए नित्य नियमित रूप में अभ्यास बढ़ाया जाए तो कोई कठिनाई न होगी—सहज ही आसन सिद्धि में सफलता प्राप्त हो जाएगी।

आसन लगा कर बैठने से जब शरीर में दर्द या किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न होकर एक प्रकार के आनन्द का उदय हो शरीर के प्रत्येक भाग में एक प्रकार का हलकापन-सा महसूस हो तभी समझना चाहिए कि आसन का अभ्यास पूर्ण हो रहा है आसन में सिद्धि प्राप्त हो रही है।

• •

आवश्यकता है। वह यह है कि—आसन से बैठें तो मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) को ठीक सीधा रख कर बैठें। आसन किया परन्तु मेरुदण्ड को सीधा न रखा तो सारा परिश्रम मिट्टी में मिल जाएगा, कोई लाभ न होगा। आसन लगाकर बैठें तब आगे की ओर झुक कर या इधर उधर मुड़ कर शरीर को शिथिल बना कर नहीं बैठना चाहिए। शरीर को सर्वथा दण्डायमान स्थिर रखना चाहिए।

स्थिर आसन साधिए

इस बात को सदा स्मरण रखना चाहिए कि आसन के समय शरीर जरा भी न हिले डुले, न श्वास की गति में बाधा पड़े और न चित्त में किसी प्रकार का उद्वेग ही पैदा हो। निराकुल दशा में आनन्द से बैठने को ही आसन कहते हैं। ऐसे ही आसन के अभ्यास से सब प्रकार के द्वन्द्व छूट जाते हैं। सर्दी-गरमी, भूख प्यास, राग-द्वेष आदि किसी भी प्रकार के द्वन्द्व मन्त्र साधना में या दूसरी किसी प्रकार की साधना में बाधा नहीं डाल सकते।

आजकल के लोग आसन के पक्के नहीं रहे हैं। वे थोड़ी सी देर भी एक आसन से जम कर नहीं बैठ सकते। दो घड़ी अर्थात् स्वल्प काल में भी सामायिक करने वाले सज्जन कभी कैसे बैठते हैं तो कभी कैसे? बार बार आसन बदलते हैं, टाँगें पसारते हैं, अंगड़ाइयाँ लेते हैं। भला जिनका आसन ही स्थिर नहीं, वे किस बूते पर साधना में सफलता की आशा रख सकते हैं? आध्यात्मिक साधना की बात तो दूर रखिए, व्यवहारगत मनुष्य तो संसार

के क्षेत्र में भी कोई सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। दृढ़ता के साथ जम कर बैठना या खड़ा होना प्रत्येक कार्य सिद्धि का मूल मन्त्र है।

आसनों का काम कुछ साधारण नहीं है। पहले-पहल बार बड़ी कठिनता का सामना करना होता है। ज्यों ही शरीर दुखने लगता है मन उचट जाता है, त्यों ही फिर और अधिक बढ़ना त्रासदायक मालूम होने लगता है। परन्तु जरा धैर्य रखा जाए, नित्य नियमित रूप से अभ्यास बढ़ाया जाए, तो कोई कठिनाई न आएगी — सहज ही आसन सिद्धि में सफलता प्राप्त हो जाएगी।

आसन लगा कर बैठने से जब शरीर में दर्द या किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न होकर एक प्रकार के आनन्द का उदय हो, शरीर के प्रत्येक भाग में एक प्रकार का हलकापन-सा महसूस हो तभी समझना चाहिए कि आसन का अभ्यास पूर्ण हो रहा है, आसन में सिद्धि प्राप्त हो रही है।

● ●

है चारों ओर साधकों के झुण्ड के झुण्ड दौड़ रहे हैं। परन्तु अन्तर की ओर झाँकने वाले अन्तरंग में दृढ़ श्रद्धा एवं धैर्य का बल रखने वाले विरले ही सज्जन मिलते हैं। जो मनुष्य श्रद्धाहीन हो, वासनाओं का गुलाम हो, संसार की मोह-माया में फँसा हुआ हो, बात बात में क्रोध, मान, माया, लोभ के झंझावात में उड़ने लग जाता हो, वह साधना के क्षेत्र में क्या चमत्कार दिखा सकता है? साधना के लिए सबसे पहली और सबसे आखिरी बात यही है कि मन को स्थिर किया जाए, मन को पवित्र किया जाए। जब तक मन की चंचलता दूर नहीं होती है, मन शान्त एवं निष्कम्प नहीं होता है, मन में पवित्र विचारों की गंगा नहीं बहती है, तब तक साधना में कोई भी उज्ज्वल चमत्कार नहीं पैदा हो सकता। एक साधारण से मान को भी अपने घर पर आमन्त्रित किया जाता है तो घर को कितना सुन्दर, स्वच्छ एवं शुद्ध बनाया जाता है? दूर-दूर तक पवित्रता एवं स्वच्छता का कितना ध्यान रखा जाता है? कहीं भी मलिनता नहीं रहने दी जाती। और भला जब साधक हृदय मन्दिर में अपने परमपवित्र इष्टदेव का संस्मरण करना चाहे तो वह मलिन बना रहे, वासनाओं की गन्दगी में सड़ता रहे, इधर उधर के पदार्थों के मोह में छिनता फिरता रहे, यह कैसे हो सकता है? प्रभु स्मरण के लिए तो सबसे पहले हृदय मन्दिर को साफ करना ही होगा।

ऊपर के विवेचन पर से यह निर्णय हो जाता है कि साधना के क्षेत्र में मन की पवित्रता का होना सर्वप्रथम आवश्यक बात है। परन्तु प्रश्न है कि मन पवित्र हो कैसे? मन को वश में करना

तो वेगवान् पवन को वश में करना है जो कभी हो नहीं सकता। क्या कभी समुद्र की तरगें भी वश म हुई हैं ? यह प्रश्न वह प्रश्न है जो आज मन पे मुंह पर चढ़ा हुआ है। बहुत से सज्जन तो मनोविजय की यात्रा म सर्वथा शुरु पर निराश होकर बैठ ही गए हैं।

परन्तु जहाँ तक साधना का सम्बन्ध है निराश होने जैसी कोई बात नहीं है। मनुष्य की महान् शक्ति के आगे असम्भव जैसी कोई चीज ही नहीं है। मन तो हमारा गुलाम ही है क्या वह हमारे वश म न होगा ? होगा अवश्य होगा। जरा दृढ़ता के साथ काय करने की आवश्यकता है। जबकि ससारी कामा म मन आपका साथ देता है तब वह साधना म आपका साथ न दगा यह कैसे माना जा सकता है। दुकान पर लेने देने समय नोट गिनाते समय स्वर्ण आभूषण गढ़ते समय पाठ करते समय बही-खाता करते समय आपका मन स्थिर रहता है या नहीं ? अवश्य रहता है तो फिर वह साधना म क्यों नहीं रहता ? अवश्य रह सकता है जरा अपना अभ्यास कीजिए।

अभ्यास बड़ी करामात है

अभ्यास बहुत बड़ी करामात है। असाध्य म असाध्य कार्य भी अभ्यास द्वारा सहज ही म सिद्ध हो जाते हैं। मन तो बेचारा क्या है अभ्यास तो ब[illegible] व[illegible] चम त्कार पै[illegible] कर सकता है विश्व विजय तक कर सकता है। अभ्यास के द्वारा प्राणिमात्र के स्वभाव म इतना परिवर्तन होता है कि [illegible] तक नये प्रकार का जीवन

हो जाता है। जो शेर अनेक वर्षों तक पिंजरे में रह जाता है वह पिंजड़े का दरवाजा खुलने पर भी पिंजरे से नहीं भागता। यदि उसे बाहर निकाल भी दिया जाता है तो भी वह फिर पिंजड़े में ही घुसता है। जिन बन्दियों का जन्म प्रायः बन्दीगृह में ही बीतता है वे जब बन्दीगृह से मुक्त होते हैं तब भी बन्दीगृह में ही जाने को तरसते हैं। अभ्यास के कारण ही मीलों लंबी और गहरी खानों में काम करनेवाले आदमी प्रसन्नता से उन खानों में सारा जीवन बिता देते हैं और अभ्यास के कारण ही ज्वालामुखी पर्वतों पर रहने वाले लोग तथा सदा वायुयान में उड़ने वाले वायुयान चालक निर्भयता के साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। हमारा मन अभ्यास के द्वारा इस प्रकार से नियंत्रित किया जा सकता है कि हम जिधर उसे चाहें ले जा सकते हैं जिस परिस्थिति में रखना चाहें, रख सकते हैं।

मन का सतुलन रखिए

पाठकों में से किसी ने बाइसिकिल चलाई है? आप जानते हैं जब चलाना सीखा था तो बैलेन्स करने में कितनी कठिनाई पड़ती थी? मन का समग्र ध्यान उस पर लगा दिया जाता था। जरा भी ध्यान से इधर-उधर भटके कि भट गिरते ही दिखते थे। न मालूम कितनी बार चढ़े और कितनी बार गिरे? सब कुछ हुआ परन्तु आपने अभ्यास न छोड़ा। ज्यों ही अभ्यास बढ़ा बैलेन्स स्वाभाविक हो गया। अब आप इधर उधर देखते भी जाते हैं बातें भी करते हैं गाते और सीटी भी जाते हैं पर

बनेम ठीक रहता है गिरने नहीं पाते। साधना भी बाइसिकिल की सवारी है। पहले-पहले मन उछल कूद करेगा इधर-उधर भटकेगा परन्तु अभ्यास न छोड़िए—योग्य बहुत प्रयत्न करते ही रहिए। एक दिन मन का संतुलन ठीक हो जाएगा और फिर आनन्द ही आनन्द। हमारा मन एक बार हमारे पूर्ण नियंत्रण में आ जाना चाहिए फिर तो हम सभी अवस्थाओं में आनन्द का उपभोग कर सकते हैं। विश्व के प्रत्येक चमत्कार का साक्षात्कार कर सकते हैं हर किसी साधना में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

दो मार्ग

मन का नियंत्रण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो उसकी गति का मार्ग परिवर्तन करने में और दूसरे उसे गति हीन कर देने में। योगदर्शन में मन को गतिहीन बनाने का विधान है परन्तु जैनाचार्य ऐसा नहीं मानते उनका विश्वास मार्ग परिवर्तन पर ही है। उनका कहना है कि मन जब तक मन रूप में है गतिशील ही रहेगा। आजकल के मनोविज्ञान के अनुसार भी मन को गतिहीन करना सम्भव नहीं है वह कुछ न कुछ करता ही रहता है। अस्तु मन को वश में रखने का यही एक उपाय है कि उसको दुर्ध्यान से हटा कर सद् ध्यान की ओर लगा दिया जाय। ध्यान की महिमा अपरम्पार है। बिना उसके कोई भी कार्य नहीं हो पाता के द्वारा साध्य न हो।

ध्यान का सामान्य अर्थ एकाग्रता है। चित्त के द्वारा किसी

एक विशिष्ट शुद्ध रूप के एकाग्र चिन्तन करने को ध्यान कहते हैं। योग शास्त्र में ध्यान के सम्बन्ध में बड़ी गम्भीर विवेचना की गई है। अधिक जिज्ञासा वाले सज्जन वहां देखने का कष्ट उठाएं। यह एक साधारण लघुकाय पुस्तिका है। अतः इसमें तो मात्र साधारण रूप से ही परिचय दिया जा रहा है।

ध्यान के तीन अंग

ध्यान में—चिन्तन में मुख्य तीन वस्तुएं होती हैं—ध्याता ध्येय और ध्यान। ध्यान करने वाला 'ध्याता' होता है। ध्यान के लिए जिस का अवलम्बन किया जाता है वह ध्येय होता है। और जो कुछ भी चिन्तन होता है वह ध्यान कहलाता है। ध्याता और ध्यान का मुख्य आधार ध्येय ही होता है। अतः ध्येय का विचार किया जाता है। ध्येय के चार प्रकार हैं—पिण्डस्थ पदस्थ रूपस्थ और रूपातीत।

पिण्डस्थ—सर्वप्रथम पिण्डस्थ ध्येय है। धर्मग्रन्थों में इस का विशेष महत्त्व गाया गया है। शान्त एवं एकान्त स्थान में सिद्धासन आदि किसी योग्य आसन से बैठ कर पिण्डस्थ ध्यान ध्याया जाता है। पिण्ड यानी शरीर में विराजमान आत्मरूप ध्येय का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान होता है। धारणा के भेद से पिण्डस्थ के पांच प्रकार हैं—

1 पार्थिवी धारणा—इसके अनुसार सर्वप्रथम समस्त भूमण्डल को क्षीर समुद्र के रूप में चिन्तन करो तत्पश्चात् क्रमशः

विचार करना चाहिए अग्नि शिखा शान्त होकर जहाँ से उठी थी वहीं वापस समा गई है शरीर जल कर राख हो गया है। अन्दर आत्मा का तेज दमक रहा है।

३ मारुती धारणा—इसमें यह विचार किया जाता है कि चारों ओर से मन्द, सुगंध समीर—वायु के झोंके आ रहे हैं। आत्मा की ज्योति अन्दर से प्रकाशमान होती हुई बाहर प्रकट हो रही है। अन्त में विचार करे कि सब राख उड़ चुकी है अन्दर से आत्मा का प्रकाश चमक उठा है।

४ वारुणी धारणा—इसका स्वरूप बड़ा ही शान्तिप्रद है। इस में मेघों का संकल्प किया जाता है। ऐसा मालूम होता है आकाश में घन काले बादल छा गये हैं। पहले धीरे धीरे बाद में जोर से वर्षा होती है। आत्मा पर से राख का अंश पूर्णतया धुल जाता है। आत्मा शान्त शीतल और देदीप्यमान प्रकाश-युक्त हो जाती है।

५ तत्त्ववती धारणा—इसमें यह विचार करना चाहिए कि आत्मा कर्म-मल से सर्वथा रहित है। कर्म भी नहीं हैं शरीर भी नहीं है। पूर्ण शुद्ध शान्त प्रकाशमान है। सिद्ध पद के अनन्त गुण प्रगट हो चुके हैं अजर अमर एवं अक्षय शान्ति का लाभ मिल चुका है। अब मैं कर्मों से लिप्त न रहूँगा वासनाओं के जाल में न फसूँगा।

यह प्रकार पिण्डस्थ का है। प्रत्येक धारणा का पूरा-पूरा अभ्यास करना चाहिए। जब एक धारणा का अभ्यास पूरा हो

मनुष्य पशु आदि सभी शान्त तथा निश्चल भाव से बैठे हुए हैं। सिंह भी है, पास ही मृग है पर जरा भी वैर भाव नहीं। चारों ओर शान्ति ही शान्ति है। बीच में साक्षात् तीर्थंकर देव स्फटिक सिंहासन पर विराजमान हैं। धर्मोपदेश हो रहा है, ज्ञान की गंगा बह रही है। सामने हो मैं—साधक बना हूँ उपदेश सुन रहा हूँ पाप-मल धो रहा हूँ।

उपर्युक्त पद्धति से ही भगवान की दीक्षा का प्रसंग, वनों में ध्यान लगाने का दृश्य, केवलोत्पत्ति का समय—आदि रूपक भी यथासमय विचारते रहने चाहिए। कभी-कभी अपने आप का भी तीर्थंकर के रूप में चित्रित करना चाहिए। महान संकल्प मनुष्य को महान बना देते हैं, इसमें अणुमात्र भी असत्य नहीं है।

रूपातीत—रूपातीत का अर्थ होता है–रूप से अतीत, अर्थात् रूप रंग से सर्वथा रहित। यह अन्तिम प्रकार है। इसमें कर्ममल से सर्वथा रहित अशरीरी अजर अमर सिद्ध भगवान के रूप में अपनी आत्मा का दृश्य विचारा जाता है। यहाँ पहुँच कर संकल्प करना चाहिए कि—मैं देह नहीं हूँ क्योंकि देह दृश्यमान होता है मैं द्रष्टा हूँ। मैं इन्द्रिय भी नहीं हूँ क्योंकि इन्द्रियाँ भौतिक हैं मैं अभौतिक हूँ। मैं प्राण नहीं हूँ क्योंकि प्राण अनेक हैं मैं एक हूँ। मैं मन नहीं हूँ क्योंकि मन चंचल है मैं पूर्ण स्थिर हूँ। इस प्रकार विचार करते-करते अपने आप को सिद्ध बुद्ध मुक्त निर्विकार, ज्ञान स्वरूप, ज्योतिर्मय विचारना चाहिए। यह

रूपातीत ध्यान की प्रक्रिया है। इसका कोई खास शब्द चित्र नहीं खींचा जा सकता। ध्यान करते करते अपने आप ही क्रमो उक्त स्वरूप का साक्षात्कार आ सकता है।

धर्म-ध्यान—आगम साहित्य में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का वर्णन आता है। वह भी ध्यान के क्षेत्र में अलौकिक प्रकाश फेंकता है। शुक्ल ध्यान आज के हमारे साधारण मानवी जीवन में अधिक सम्भव नहीं है। अतः यहाँ शुक्ल ध्यान का वर्णन न करके मात्र धर्म ध्यान का ही वर्णन किया जाता है। धर्म ध्यान के चार प्रकार हैं—

१ भगवान की आज्ञा क्या है? उसका हमारे जीवन से क्या सम्बन्ध है? भगवान की जिन आज्ञाओं का आराधन करके हम अपने जीवन को पवित्र बना सकते हैं? दूसरे मत प्रवर्तकों की वाणी की अपेक्षा जिन वाणी की क्या विशेषता है? आदि विचारों का तलस्पर्शी मनन करना—चिंतन करना 'आज्ञा-विचय' धर्म ध्यान है।

२ अपने में क्या-क्या दोष रहे हुए हैं? क्रोध मान माया लोभ का वेग कितना कम हुआ है कितना बाकी है? कर्मबन्धन क्यों होता है? इसका छुटकारा हो सकता है? दूसरे जीवों का भी पार मार्ग में कैसे बचा सकता हूँ? यह विचार धारा 'अपाय विचय' है।

३ जीव सुखी किस कर्म से होता है और दुःखी किस कर्म

है ? किस कर्म का क्या फल होता है ? वह कर्म तीव्र या मन्द क्यों बन्ध हो सकता है ? आदि गम्भीर विचार 'विपाक-विचय' कहलाता है।

४ लोक का क्या स्वरूप है ? नरक और स्वर्ग का क्या स्वरूप है ? मुक्ति का क्या संस्थान है ? जड़ और चैतन्य में क्या विभेद है ? पुद्गल द्रव्य से अशुभ और अनन्त रूप में कैसे बदल जाता है ? आदि विचार 'संस्थान विचय' कहा जाता है।

ध्यान का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्राचीन आचार्यों ने ध्यान के अनेक प्रकार हमारे सामने रखे हैं जिनके द्वारा हम अपने चंचल मन को वश में कर सकते हैं। ऊपर जो धर्म ध्यान का वर्णन किया है वह अतीव संक्षिप्त रूप में है। पाठक इसे इतना ही न समझें। अपितु पद्धति के अनुसार आप इसे जितना भी चाहें बढ़ा सकते हैं।

पदस्थ ध्यान में जो नवकार का वर्णन किया है वह भी बहुत विस्तृत है। जिस प्रकार पाँच पद के ध्यान का वर्णन है, उसी प्रकार आप नौ पद का ध्यान भी आठ पंखड़ी वाले कमल के द्वारा कर सकते हैं। प्रथम पद बीच में तथा आठ पद चारों ओर की पंखुड़ियों पर। नौ पद में पाँच पद तो वे ही हैं, चार पद ज्ञान दर्शन चारित्र और तप के हैं। अ सि आ उ सा के मन्त्र को भी इसी भाँति पाँच पंखड़ी के कमल से विचारा जा सकता है।

ध्यान का कार्य कुछ खेलना का नहीं है। इस क्षेत्र में आप को बहुत दीर्घ धैर्य का बल साथ लेकर उतरना चाहिए। जितने ही सज्जन शीघ्र ही प्रारम्भ कार्य का फल देखना चाहते हैं। जरा सा भी विलम्ब हो जाता है तो अधीर हो जाते हैं। कृपया वे ध्यान के क्षेत्र में पधारने का कष्ट न करें। भला जो मन अर्थात् वात से वायु के वेग से भी अधिक गतिमान समुद्र की तरंगों से भी अधिक चंचल रहा है वह आप की साधारण सी ध्यान-साधना के द्वारा जल्दी ही कैसे वश में आ सकता है? इसके लिए तो आप का दीर्घातिदीर्घ काल तक के लिए ध्यान के क्षेत्र में जुटा रहना चाहिए। ध्यान करते जाओ करते जाओ एक दिन वह आएगा ही जिस दिन मन शान्त तथा स्थिर हो जाएगा—आपके अभीष्ट साधनों पर सधे बन्दर के समान चलने लग जाएगा।

ध्यान करने के लिए एक विशेष समय निश्चित कर लीजिए। प्रतिदिन उस समय सब काम छोड़ कर ध्यान करने बैठ जाइए। कितने भी आवश्यक कार्य हों एक दिन का भी व्यवधान न करिए। एक दिन का भी अन्तर साधना की निरन्तरता को खंडित कर देता है।

ध्यान के लिए प्रातःकाल का समय उपयुक्त है। बड़ा सुहावना समय होता है। प्रकृति शान्त होती है। संसार की कोई भी खटपट उस समय नहीं होती। प्रातःकाल के समय भी आप को निराहार

रह कर ही ध्यान करना चाहिए। पेट से पहले अपनी आत्मा से बात करो। पेट में भोजन न रहने पर मन और मस्तिष्क अधिक शान्त होते हैं।

o •

'मन्त्र' शब्द का अर्थ है – रहस्य अथवा गुप्त-परामर्श। मन्त्र शब्दात्मक होता है परंतु उसमें श्रद्धा एवं विश्वास का बल डाला जाता है। मन्त्र की शक्ति शब्दों में नहीं उसकी भावना में होती है। मन्त्र सिद्धि में सफलता और विफलता का आधार साधक की भावना, आस्था और निष्ठा है। मन्त्र प्राप्त होने पर भी यदि उसकी साधना न की जाए तो उससे उतना लाभ नहीं होता जितना होना चाहिए। श्रद्धा भक्ति और साधना से जब मन्त्रों के अ मन में प्रवेश करके एक दिव्य आनन्द उत्पन्न करते हैं तब उ मन्त्र जप से जन्म-जन्मों के पाप-तापों के संस्कार धुल जाते साधक की प्रसुप्त चेतना प्रबुद्ध हो जाती है। परन्तु जब तक काल निरन्तर और श्रद्धा भाव से मन्त्र की साधना न की तब तक सिद्धि की अभिलाषा रखना भी व्यर्थ है। सिद्धि तो उसके लिए दीर्घकाल तक निरंतर साधना करो करो।

मन्त्र जप करते समय यदि शौच लघुशंका वेग आए तो उनका निरोध नहीं करना चाहिए अवस्था में मन्त्र जप और इष्ट चिन्तन में एका इष्ट का चिन्तन न होकर मन मूत्र का ही चि

अत पहले ही सावधान होकर बैठें। यदि बीच में वेग आए भी तो उससे निवृत्त हो लेना आवश्यक है। परन्तु मन्त्र जप करते समय इतने कर्म निषिद्ध हैं—

१ आलस्य एव प्रमाद करना।
२ जृम्भा और निद्रा का आना।
३ अपवित्र अगों का स्पर्श करना।
४ बार-बार क्रोध का आना।
५ जप के समय को भूल जाना।

मन्त्र-जप में न बहुत शीघ्रता करनी चाहिए, और न बहुत विलम्ब। जप में सिर हिलाना अगों का इधर उधर फैलाना मन्त्र के शब्दोच्चारण के साथ अर्थ का चिन्तन न करना। अन्य मनस्क होकर बीच-बीच में मन्त्र का भूल जाना—ये सब मन्त्रसिद्धि के प्रतिबन्धक हैं, मन्त्रसिद्धि में बाधक तत्व हैं विघ्न हैं। किसी भी मन्त्र का जप किसी विशेष सिद्धि के लिए करना हो तो साधक को निम्नलिखित नियमों का पालन करना चाहिए —

१ भूमि-शयन।
२ ब्रह्मचर्य पालन।
३ मौन-अल्प भाषण।
४ पाप-कर्म का परिवजन।
५ इष्ट में गहरी निष्ठा भावना।
६ नित्य उपासना साधना।
७ चित्तविकारो का परित्याग।

मन्त्र शास्त्रविद् विद्वानों का कथन है कि मन्त्र जप के पहले मुख शोधन अवश्य कर लेना चाहिए क्योंकि अशुद्ध जीभ से जप करने से लाभ के बदले हानि होती है। जिह्वा पर अनेक प्रकार के मल रहते हैं—भोजन का मल, असत्य का मल और कटु भाषण का मल। इस प्रकार के दोषों के शोधन के बिना मन्त्रोच्चारण नहीं करना चाहिए। ओम् और अर्हम् के जप से मुख शोधन हो जाता है।

मन्त्र के दोष

किसी भी मन्त्र का जप करते हुए मन्त्र के आठ दोषों से प्रत्येक साधक को बचना चाहिए। ये आठ दोष इस प्रकार हैं—अभक्ति, भ्रान्ति, लुप्त, छिन्न, ह्रस्व, दीर्घ, कथन और स्वप्न कथन।

१ अभक्ति—जिस देवता का मन्त्र हो उसके प्रति मन में पूर्ण भक्ति होनी चाहिए। इष्टदेव के प्रति भक्ति का न होना अभक्ति दोष है।

२ भ्रान्ति—भ्रम और प्रमाद से मन्त्र के अक्षरों में उलट फेर हो जाना, अक्षरों का घट-बढ़ जाना भ्रांति दोष है।

३ लुप्त—मन्त्र में किसी वर्ण अक्षर की न्यूनता हो जाना लुप्त दोष है।

४ छिन्न—मन्त्र के वर्णों में से कोई वर्ण छूट जाए तो वह छिन्न दोष है।

५ ह्रस्व—दीर्घ वर्ण के स्थान में ह्रस्व वर्ण का उच्चारण करना—ह्रस्व दोष है।

६ दीर्घ—ह्रस्व वर्णों के स्थान पर दीर्घवर्ण का उच्चारण करना—दीर्घ दोष है।

७ कथन—जागृत अवस्था में अपना मंत्र किसी अनधिकारी को कह देना—कथन दोष है।

८ स्वप्न-कथन—स्वप्न में अपना मन्त्र सोते हुए किसी को कह देना—स्वप्न-कथन दोष है। अथवा मन्त्र जप के काल में कोई विशिष्ट स्वप्न आए, और उसे हुए किसी के समक्ष कहते फिरना भी स्वप्नकथन दोष है।

उक्त आठ प्रकार के दोषों का परित्याग करके जप करने से सिद्धि मिलती है लाभ होता है इनसे मन्त्र की शुद्धि बढ़ती है।

वहाँ आज जप के नाम पर मात्र शून्य का रह जाना, आश्चर्य में डाल देने वाला है। यह बात नहीं कि आज जप में कुछ रहा नहीं है वह नीरस निष्फल हो गया है। आज भी जप में सब कुछ है। आज भी जप के द्वारा हम अनेक आध्यात्मिक-चमत्कारों के दर्शन कर सकते हैं। परन्तु जप की जो शर्तें हैं, उनका पूरा होना आवश्यक है। जप के लिए सर्वप्रथम अटल श्रद्धा की बात है। जिस साधक की जितनी ही अटल श्रद्धा होगी वह उतना ही आध्यात्मिकता के ऊँचे शिखर पर चढ़ सकेगा। जप का काल ज्यों ही लम्बा होता जाएगा मन शान्त तथा स्थिर होता जाएगा त्यों ही साधक ध्यान के क्षेत्र में उतरता जाएगा। और जब साधक अपने इष्टदेव के ध्यान में इतना तन्मय हो जाएगा कि उसकी आत्मा इष्टदेव के स्वरूप में लीन हो जाएगी उस समय साधक समाधि की अवस्था में पहुँच जाएगा, और उस स्थिति में जप ध्यान में लीन हो जाने के कारण समाप्त हो जाएगा।

नवकार महामन्त्र के जप की प्राचीन आचार्यों ने बहुत महिमा गाई है। प्राचीन शास्त्रों में कितने ही ऐसे साधु तथा गृहस्थों का वर्णन आता है जो केवल जप के द्वारा ही आत्म साधना कर सके। इसका यह अर्थ नहीं कि वे केवल जप ही करते रहे अन्य सदाचार की साधना से शून्य रहे। सदाचार की साधना के अनन्तर ही तो जप की साधना का नम्बर आता है। सदाचार की साधना को जितना नवकार मन्त्र के जप से बल मिलता है उतना और किसी मन्त्र से नहीं। नवकार मन्त्र वस्तुतः है ही सदाचार का

प्रतीक। तीर्थंकर आचार्य उपाध्याय तथा मुनियों से बढ़ कर सदाचार को जीवन में उतारने वाले और कौन हो सकते हैं? नवकार में इन्हीं सदाचार आराधक तथा प्रवर्तक महापुरुषों का संस्मरण है। अतः नवकार का जप करने वाला साधक सदाचारी न बने तो क्या भोग विलासी देवी-देवताओं का उपासक बनेगा? अस्तु दृढ़ता के साथ नवकार मंत्र का जप प्रारम्भ कर देना चाहिए। संसार की समस्त विभूतियाँ चरण-कमलों में आ उपस्थित होंगी।

जप का समय

हमारे प्राचीन आचार्य जप के लिए संधि-काल का समय अतीव उपयुक्त बतलाते हैं। प्रातःकाल की संधि मध्याह्नकाल की संधि और सायकाल की संधि—इन तीनों समय पर मनुष्य दत्तचित्त होकर जप के द्वारा जो भी शुद्ध संस्कार अन्तः स्थित करेगा वही सदा जागृत रहेगा और उसी का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होगा। संधि के समय जिस प्रकार के भाव पैदा हो जाते हैं उसका असर प्रधान रूप से अगली संधि तक तो रहता ही है। विशेष कर प्रातःकाल का समय तो बहुत ही औचित्य पूर्ण है। प्रातःकाल के समय सांसारिक व्यवहार के भाव कुछ नहीं होते मन और मस्तिष्क ग्रहण शील अवस्था में होते हैं और उनमें सर्वप्रथम ऊँडेले गए उत्तम संस्कार दृढ़ता से अंकित हो जाते हैं। आस-पास प्रकृति का वातावरण शान्त रहने के कारण हृदय में विक्षोभ भी पैदा नहीं होता। अतः जप अपनी पूरी लय के साथ अव्याहत गति से निश्चित समय तक चल सकता है।

उत्साह बढ़ाते रहिए

जप करते समय एक बात और भी लक्ष्य में रखने की है। वह यह कि जप-ध्यान में साधक को उत्साह हीन नहीं होना चाहिए। मानव प्रकृति की यह सब से बड़ी दुर्बलता है कि वह जितना कार्यारम्भ में उत्साह रखता है उतना आगे चल कर नहीं। ज्यों ज्यों काम लंबा होता जाता है त्यों-त्यों वह हतोत्साह एवं निष्क्रिय हो जाता है। जप-साधना में भी कभी कभी अरुचि पैदा हो जाती है, जप नीरस तथा शुष्क प्रतीत होने लगता है। अधिकाधिक उत्साह के साथ जप करना ही इस रोग की औषध है। जैसे पित्त रोग को औषध मिश्री है। पित्तरोग के दोष से विकृत जीभ को आरम्भ में मिश्री भी कड़वी ही लगती है। बाद में ज्यों-ज्यों पित्त दोष का नाश होता जाता है त्यों-त्यों क्रमश वह मीठी लगने लगती है। वैसे ही मंत्र जप में अरुचि होने पर प्रयत्नपूर्वक मंत्र जप करते रहने से क्रमश मंत्र जप अच्छा लगने लगता है। जप में अभिरुचि बढ़ने लगती है और अंत में जप सर्वथा सरस एवं मधुर हो जाता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर आचार्यों ने कहा है कि—'जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः'। जप से सिद्धि निश्चय ही मिलती है आप जप में निरंतर अपने उत्साह एवं अभिरुचि को बढ़ाते रहिए।

जप के तीन भेद

जप के मुख्यतया तीन भेद हैं—मानस, उपांशु, और

भाष्य। मानस जप वह है जिसमें मन्त्रार्थ का चिन्तन करते हुए मात्र मन से ही मन्त्र के वर्ण, स्वर और पदों की बार-बार आवृत्ति की जाती है। उपांशु जप में कुछ-कुछ जीभ और होंठ चलते हैं, अपने कानों तक ही जप की ध्वनि सीमित रहती है, दूसरा कोई नहीं सुन सकता। भाष्य जप वाणी के द्वारा स्थूल उच्चारण है। इसमें आस-पास रहने वालों को भी जप की ध्वनि सुनाई पड़ती है। आचार्यों ने सब से श्रेष्ठ मानस जप को बतलाया है। उन का कहना है कि भाष्य जप से सौगुना उपांशु जप का और सहस्रगुना मानस जप का फल है। साधक का कर्त्तव्य है कि वह क्रमशः शक्ति बढ़ाता हुआ भाष्य, उपांशु और मानस जप का अभ्यास करे।

आवश्यक सूचनाएं

प्रत्येक क्रिया में कुछ बातें ऐसी होती हैं जो बिल्कुल साधारण होते हुए भी महत्त्वपूर्ण होती हैं। जब तक उन का ज्ञान न होगा क्रिया कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती। जप के सम्बन्ध में भी यही बात है। अतः साधकों को इस सम्बन्ध में हम कुछ आवश्यक ज्ञातव्य बातों से परिचित करा देना चाहते हैं।

जप करते समय बीच में बातें नहीं करना चाहिए। जब तक चालू माला पूर्ण न हो जाए मौन ही रखना चाहिए। जप में न बहुत जल्दी करनी चाहिए और न बहुत विलम्ब। गाकर जपना, सिर हिलाना, लिखा हुआ पढ़ना, अर्थ न जानना और बीच-बीच में भूल जाना—ये सब जप सिद्धि के प्रतिबंधक हैं।

जिस के चित्त में व्याकुलता, क्षोभ तथा भ्रान्ति हो, भूख लगी हो शरीर में असह्य पीड़ा हो उसे भी जप न करना चाहिए। चंचल मन में जप की शान्ति का आविर्भाव होना कठिन है। पलंग पर बैठ कर, जूता पहने हुए, अथवा पैर फैला कर जप करना भी शास्त्र में निषिद्ध है। यदि यों ही मानस जप करना हो तो उस के लिए नियम नहीं है। जप करते समय आलस्य जँभाई नींद छींक थूकना डरना अपवित्र अंगों का स्पर्श तथा क्रोध आदि भी नहीं आने चाहिए। उक्त दुर्गुण भी जप की पवित्रता को नष्ट कर देते हैं।

जप करते समय यदि शौच या लघुशंका आदि का वेग हो तो उसका निरोध नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसी अवस्था में मन और इष्ट का चिन्तन तो होता नहीं, मल मूत्र का ही चिन्तन होने लगता है। उस समय का जप अपवित्र होता है और चित्त अव्यवस्थित होने के कारण कभी-कभी भयंकर अनर्थ भी उत्पन्न हो जाते हैं।

जप की महिमा अपरम्पार है। जप के द्वारा वह वाक्सिद्धि प्राप्त होती है जिस के सहारे साधक विरोधी से विरोधी को भी अपना मित्र बना लेता है। असाध्य से असाध्य कार्य को भी साध्य बना लेता है। यदि वास्तव में विधि विधान के साथ जप किए जाएं तो जीवन में किसी भी प्रकार की न्यूनता न रह सकती।

• •

जप साधना में अखण्ड जप का स्थान भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। जो जप बीच बीच में खंडित हो जाता है बिना किसी अन्तर के अविराम एक ही धारा से नहीं होता है वह पूर्णतया उत्साह का वातावरण नहीं पैदा कर सकता। जब तक साधकों के हृदयों में उत्साह की लहर नहीं दौड़ती है तब तक जप का वास्तविक आनन्द नहीं उठाया जा सकता। अखण्ड जप इसी ध्येय की पूर्ति के लिए है।

जो सज्जन प्रतिदिन नियमित समय पर अलग अलग जप करते हैं उन्हें चाहिए कि वे वर्ष में एक या दो बार अवश्य ही संगठित रूप से अखण्ड जप करने का प्रयत्न करें। अखण्ड जप में सामूहिक जप होता है और वह भी नियत अवधि तक ही। अतः भक्ति रस का समुद्र बहाने के लिए वर्ष भर के मानसिक आलस्य तथा प्रमाद को दूर फेंक देने के लिए तथा संघ में अपूर्व धर्म-जागृति की भावना पैदा करने के लिए यह एक सर्वश्रेष्ठ साधन है। अखण्ड जप का प्रयोग आगरा महेन्द्रगढ़ रायकोट, अम्बाला पटियाला इन्दौर, उज्जैन आदि कितने ही क्षेत्रों में किया गया है, और सभी क्षेत्रों से बड़े-बड़े अनुभवी एवं विद्वान

से प्रारम्भ करके सूर्योदय पर ही समाप्त करना अधिक सगत है, और उचित है।

अखण्ड जप की विधि

अखण्डजप में कितने सज्जनों को भाग लेना चाहिए ? यह प्रश्न भी विचारणीय है। दिन रात में चौबीस घण्टे होते हैं, अतः एक-एक घण्टे की बारी बारी से चौबीस सज्जन तो आवश्यक हैं ही। यदि सभा में जन संख्या अधिक हो तो एक साथ दो-दो की बारी के हिसाब से अड़तालीस सज्जन होने चाहिए। एक की अपेक्षा एक साथ दो व्यक्तियों का जपना अधिक लाभप्रद है। अन्य व्यक्ति भी यथावसर जप में भाग लेना चाहें तो ले सकते हैं। कोई हानि नहीं, लाभ ही है। यहाँ यह अवश्य ध्यान में रहे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्धारित समय पर तथा घण्टे की ड्यूटी के लिए पहले से ही उपस्थित हो जाए। कहीं यह न हो कि जप-वाला की प्रतीक्षा में विलम्ब हो जाए परन्तु अखण्ड जप ही खण्डित हो जाए।

अखण्ड जप की विधि यह है कि—प्रथम तो स्थान शुद्ध स्वच्छ प्रकाशमय तथा एकान्त हो। जब तक स्थान की पवित्रता तथा एकान्तता न होगी तब तक हृदय में उल्लास नहीं पैदा होगा। जप भी निर्विघ्नतया न हो सकेगा। दूसरे—पूर्व तथा उत्तर की ओर मुख करके ही साधकों को जप करना चाहिए। अन्य दिशाओं में जप आदि कोई भी धर्म कृत्य करना, शास्त्र में निषिद्ध है। जप करने वालों के वस्त्र आसन मुख वस्त्रिका माला आदि उपकरण भी शुद्ध तथा स्वच्छ होने चाहिए। अखण्ड जप के लिए

३ व्यापार आदि में छल-कपट भी न हो।
४ तम्बाकू, बीड़ी आदि के उपयोग से बचना चाहिए।
५ ब्रह्मचर्य का पालन भी आवश्यक है।
६ रात्रि भोजन न करें।
७ सिनेमा आदि में विकारवर्द्धक चित्र न देखें।

एक सौ आठ गुण

बारस गुण-अरिहंता,
सिद्धा अट्ठेव सूरि छत्तीस।
उवज्झाया पणवीस
साहू सगवीस अट्ठसयं ॥

प्राचीन आचार्यों ने नवकार मंत्र के एक-सौ आठ गुण बतलाए हैं। नवकार के एक-सौ आठ गुण हैं इसका अभिप्राय यह है कि नवकार के प्रथम खण्ड में जो पाँच पद हैं उन पदों के अधिष्ठाता महापुरुषों में सब के सब मिल कर एक सौ आठ गुण होते हैं। अरिहंत सिद्ध आदि महान पवित्र और विकसित आत्माओं में क्या इतने पाद से ही गुण हैं? यह प्रश्न अपने मन में जान कर कष्ट न करें। पाँचों पदों के गुणों की कोई सीमा नहीं है अनन्त गुण हैं। समुद्र के जल बिन्दुओं तथा हिमालय के परमाणुओं की गिनती कर सकना तो सरल है परन्तु अरिहंत आदि महा आत्माओं के गुणों की गणना कर लेना सरल नहीं। वहाँ तो जो द्ध है अनन्त ही अनन्त है। जबकि गुण अनन्त हैं उनकी कोई सीमा ही नहीं हुई, फिर यह एक-सौ आठ गुणों की कल्पना

कैसे ? उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि प्राचीन आचार्यों ने जो एक-सौ आठ गुणों की सूची तैयार की है वह मात्र भव्य जीवों को पाँच परम महत्त्वपूर्ण गुणों की एक साधारण-सी झाँकी दिखाने के लिए है। गुणों का स्थूल दृष्टि से परिचय कराना ही उक्त कल्पना का मुख्य उद्देश्य है।

● ●

७ मधुर ध्वनि युक्त देव दुन्दुभि ।
८ एक के ऊपर एक तीन छत्र ।

चार अतिशय

अतिशय का अर्थ उत्कृष्टता अर्थात् विशेषता होता है। अरिहंत भगवान् की वैसे तो अगणित विशेषताएँ हैं परन्तु चार विशेषताएँ मूल मानी जाती हैं। प्रातिहार्य और अतिशय में अन्तर यह है कि प्रातिहार्य बाह्य विभूति स्वरूप होते हैं और अतिशय आन्तरिक विभूति रूप हैं। प्रातिहार्य की अपेक्षा अतिशय अरिहंत भगवान् के अन्तरंग व्यक्तित्व को अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करते हैं। वे चार अतिशय ये हैं—

१ अपायापगम अतिशय—यह महान् अतिशय विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है अपाय—उपद्रव और अपगम नाश। जो अतिशय उपद्रवों का आपत्तियों का पूर्ण रूप से नाश करता है वह 'अपायापगमातिशय' होता है।

उक्त अतिशय के दो भेद हैं—स्वाश्रयी और पराश्रयी। स्वाश्रयी का सम्बन्ध अपने से है और पराश्रयी का सम्बन्ध दूसरे से। अपनी अन्तरात्मा में रहे हुए काम क्रोध मद अज्ञान मिथ्यात्व भय शोक घृणा निन्दा आदि दोषों का नाश जिससे होता है, वह 'स्वाश्रयी अपायापगमातिशय' कहलाता है। जिसके द्वारा भगवान् के समीप आने वाले दूसरे प्राणियों की आधि-व्याधि का नाश होता है वह पराश्रयी अपायापगमातिशय' कहा जाता है।

१७

सिद्ध के आठ गुण

मोक्ष पद को प्राप्त करने वाले सिद्ध कहलाते हैं। सिद्ध अवस्था में बन्ध और बन्ध के कारणों का अभाव होने से पूर्ण पवित्रता का भाव होता है। सिद्ध भगवान के आठ गुण बतलाए हैं। आत्मा पर जबतक आठ कर्मों का बन्ध रहता है तबतक वह संसारी रहता है और जब आठ कर्मों से सर्वथा रहित हो जाता है तो वही सिद्ध बन जाता है। आठ कर्मों में से एक एक कर्म के क्षय होने से एक एक गुण की प्राप्ति होती है। स्पष्टीकरण के लिए नीचे देखिए—

कर्म	गुण
१ ज्ञानावरणीय—यह कर्म विशेष बोधस्वरूप ज्ञान को ढकने वाला है। आवरण का क्षय बनना या पतला होता है।	ज्ञानावरणीय के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है जिससे समग्र लोकालोक का स्वरूप हस्तामलकवत् हो जाता है।
२ दर्शनावरणीय—यह कर्म आत्मा को सामान्य बोध करने वाली चेतना शक्ति का	दर्शनावरणीय के क्षय से केवल दर्शन की प्राप्ति होती है जिसके द्वारा अखिल पदार्थों के

आच्छादित करता है।	सामान्य धर्मों का प्रत्यक्ष बोध होता है।
३ अन्तराय—यह कर्म आत्मा प्रगाम भागोपभाग आदि म विघ्न डालने वाला है।	अन्तराय क क्षय से अनन्त वीर्य की प्राप्ति होती है। अनन्त वीर्य आत्मा की वह विशेष शक्ति है जिस के द्वारा आत्मा अपने पूर्ण स्वरूप म विकसित हो जाता है।
४ मोहनीय—यह कर्म आत्मा की विवेक शक्ति को घात करने वाला है। इस के उदय मे सत्यासत्य का विवेक नष्ट हो जाता है।	मोहनीय के क्षय से अनन्त चारित्र की प्राप्ति होती है। क्षायक-सम्यक्त्व एवं अनन्त चारित्र होने क पश्चात आत्मा कभी भी मोह दशा को प्राप्त नहीं होता।
५ नाम कर्म—यह कर्म आत्मा को नरक आदि गतियों तथा एकेन्द्रिय आदि जातियों में भ्रमण कराता है। शरीर आदि का उत्पादक भी यही कर्म है।	नाम कर्म क क्षय म अरूपीगुण की प्राप्ति होता है। नाम कर्म क अस्तित्व म ही शरीर का अस्तित्व है और शरीर क अस्तित्व स ही रूप रस, गन्ध स्पर्श आदि होते हैं। अस्तु नामकर्म क अभाव में अरूपित्व स्वयं सिद्ध है।

१९ उपाध्याय के पच्चीस गुण

उपाध्याय ज्ञान के प्रतिनिधि हैं। 'उप' का अर्थ—पास और 'अध्याय' का अर्थ—अध्ययन है। अतः 'उपाध्याय' का अर्थ हुआ कि जिसके पास अध्यात्म विद्या का अध्ययन किया जाए, वह उपाध्याय। प्राचीन आचार्यों ने उपाध्याय के पच्चीस गुण बतलाए हैं। आचारांग आदि ग्यारह अंग और औपपातिक आदि बारह उपांग तथा चरण—नित्य आचरण किया जाने वाला चारित्र, महाव्रत आदि और करण—प्रयोजन होने पर आचरण करना और प्रयोजन न रहने पर न करना प्रतिलेखना समिति आदि। इस प्रकार जो ग्यारह अंग और बारह उपांगों का अध्ययन अध्यापन तथा चरण-करण का पालन करते हैं उन्हें उपाध्याय कहा जाता है।

● ●

साधु शब्द साध् धातु से बना है, जिस का अर्थ साधना होता है। उक्त धातु पर से बने साधु शब्द का व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ यह होता है कि जो संयम की साधना की, वैराग्य की आत्म सिद्धि की साधना करता है, वह साधु है। आत्म-साधना के लिए साधुओं के अनेक गुण होते हैं। प्राचीन आचार्यों ने उन गुणों में से सत्ताईस गुण मुख्य माने हैं और वे इस प्रकार हैं—

१–६ छह व्रत—प्राणातिपात विरमण मृषावाद विरमण अदत्तादान विरमण, मैथुन विरमण, परिग्रह विरमण, और रात्रिभोजन विरमण।

७–१२ छह काय की रक्षा—पृथिवीकाय अप्काय, तेजस् काय वायुकाय वनस्पतिकाय और त्रसकाय की रक्षा।

१३–१७ पाँच इन्द्रियों का निग्रह—स्पर्शेन्द्रिय रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय। उक्त पाँच इन्द्रियों का निग्रह एवं दमन करना।

१८ लोभ निग्रह—लोभ पर विजय पाना।

१९ क्षान्ति—शत्रु, मित्र सब पर क्षमा करना।

२० भावशुद्धि—हृदय के भावों को निर्मल रखना।

२१ प्रतिलेखना—यथा समय वस्त्रादि की प्रतिलेखना करना।
२२ संयमक्रिया में सावधान रहना।
२३ अशुभ मन का निरोध करना।
२४ अशुभ वचन का निरोध करना।
२५ अशुभ काय का निरोध करना।
२६ शीत आदि परीषह सहना।
२७ मृत्यु सम्बन्धी उपसर्ग भी सहन करना।

साधु का जीवन एक कठोर तपस्वी साधक का जीवन है इसमें अनेक महान् गुणों का समावेश होता है। ये जो सत्ताईस गुण बतलाए गए हैं वे तो साधना के लिए परम आवश्यक एवं आधारभूत गुण हैं इसीलिए इनकी एक नियत संख्या बतलाई है।

• •

उत्तर—नवकार के द्वारा महापुरुषों का चिन्तन किया जात
है हृदय में पवित्र विचारों का प्रवाह बहाया जाता है। काम—
क्रोधादि दोषों का वेग कम होता जाता है। फलस्वरूप आत्मा
कर्म भार से हलका होता है और फिर कर्मजन्य दुःखों से छुटकारा
अपने आप हो जाता है। इसका यह अर्थ नही कि अरिहंत सिद्ध
आदि हमारी स्तुति से प्रसन्न होते हैं। और हम दुःखों से मुक्ति
दिलाते हैं। जो कुछ भी होता है साधक को अपनी साधना से ही
होता है। भावना शक्ति अतीव बलवान है जो जैसा चिन्तन मनन
करता है वह वैसा हो जाता है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुष, यो यच्छ्रद्ध
स एव स ।' यह कौन नहीं जानता कि वीरों का संस्मरण मनुष्यों
को वीर बनाता है और कायरों का स्मरण कायर।

प्रश्न—नवकार के जप से तीर्थंकर-पद की प्राप्ति कैसे हो
सकती है? क्या जप में इतनी शक्ति है?

उत्तर—नवकार के जप से तीर्थंकर-पद की प्राप्ति में कुछ भी
असम्भवता नहीं है। ज्ञातासूत्र में वर्णन आता है कि— अरिहंत
तथा सिद्ध आदि की उत्कृष्ट भक्ति से स्तुति करता हुआ साधक
तीर्थंकर पद का उपार्जन कर सकता है। नवकार में अरिहंत
सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु की स्तुति की गई है उन्हें
नमस्कार किया गया है। अतएव यदि हृदय को उत्कृष्ट भक्ति रस
से परिप्लावित करते हुए नवकार का जप किया जाए, तो तीर्थं-
कर-पद की प्राप्ति में कुछ भी संशय नहीं।

प्रश्न—आचार्य आदि को तो नमस्कार का होना सम्भव है

क्योंकि वे साक्षात् रूप से हमारे सामने हैं। परन्तु सिद्धों को नमस्कार किस तरह हो सकता है ? उन तक नमस्कार का पहुँचना क्या किसी तरह भी सम्भव है ?

उत्तर—नमस्कार वह क्रिया है जिसके द्वारा नमस्करणीय महापुरुषों का बहुमान तथा अपनी नम्रता एवं लघुता व्यक्त हो। संस्कृत भाषा में यही भाव इस रूप में प्रगट किया है—'भवत्स्व मुत्कृष्टस्त्वत्तोऽहमपकृष्ट', एतदन्यबोधनानुकूलव्यापारो हि नमः शब्दार्थ । उक्त नमन क्रिया के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य अर्थात् व्यवहार नमस्कार वह है जिसमें दो हाथ दो पैर और मस्तक—इस भाँति पाँच अंगों के द्वारा प्रणाम किया जाता है। यह नमस्कार साक्षात् रूप से सिद्धों के समक्ष घटित नहीं होता, क्योंकि सिद्ध भगवान् हमारे से परोक्ष हैं। परन्तु द्रव्य नमस्कार के साथ हृदय शुद्धि एवं भक्तिभावना-स्वरूप जो भाव नमस्कार है वह तो निश्चय नय की दृष्टि से हो ही जाता है। सिद्ध भगवान् केवलज्ञानी हैं। अतः वे हमारी वन्दना को ज्ञान में देख ही लेते हैं। क्योंकि परोक्षता या अन्तरता तो हमारी दृष्टि में ही है। उनके ज्ञान में तो परोक्षता या अन्तरता कहीं है ही नहीं।

प्रश्न—नवकार मंत्र में प्रमोद करुणा और माध्यस्थ भावनाओं में से कौन-सी भावना है ? नमस्कार एक भावात्मक क्रिया है अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है।

उत्तर नवकार मंत्र में प्रमोद भावना का धन है। प्रमोद भावना वह भावना है जिसके द्वारा गुणीजनों को देख कर गुण

कर या स्मरण कर हृदय गद्‌गद् हो जाता है। मन सत्पुरुषों
पवित्र जीवन पर मस्त होकर झूमने लग जाता है और उनके गु
को अपनाने के लिए आतुर हो उठता है। नवकार मे समार
पाँच आध्यात्मिक जीवनों का सस्मरण है। अत नमस्क्रिया के
द्वारा हृदय हृप से पुलकित हो जाता है दुर्गुणो के प्रति घृणा एव
सद्गुणों के प्रति प्रेम पैदा हो जाता है।

प्रश्न—नवकार का जप करते समय कितने पदों का जप करना चाहिए ?

उत्तर—माला अथवा अनानुपूर्वी आदि के रूप मे नवकार का जप करना हो तो पाँच पद का ही जप करना चाहिए। मूल पद पाँच है। अत नमस्कार भी पाँच पदों को ही होता है। पाँच पदों के आगे जो पद्यात्मक चार पद हैं वे नमस्कार की महिमा के लिए हैं। अत जप के समय उनका प्रयोग नहीं किया जाता।

प्रश्न—क्या अग्रिम चार पद कभी पढ़ ही नहीं जाते ?

उत्तर—पढ़े क्यों नहीं जाते ? जप के अलावा जब सम्पूर्ण नवकार पढ़ना हो तो पाँच पदों के बाद अग्रिम चार पद भी साथ ही पढ़ने चाहिए। जिस प्रकार भवन के ऊपर शिखर होता है उसी प्रकार पच पदात्मक नवकार के ऊपर चार पद शिखर रूप हैं अतएव प्राचीन ग्रथों में उनको चूलिका कहा जाता है। नमस्कारा वलिका आदि ग्रथों मे कार्य विशेष होने पर चूलि के ध्यान का भी विधान किया गया है। वहाँ लिखा है

पर बत्तीस

पंखुडी के एक कमल का संकल्प किया जाए और प्रत्येक पखुडी पर चूलिका का एक-एक अक्षर पढ़ा जाए। चूलिका के पूरे तैंतीस अक्षर हैं। अत अवशिष्ट तैंतीसवां अक्षर बत्तीस पखुडियों के ठीक बीच मे रही हुई कणिका पर पढ़ना चाहिए। चूलिका के ध्यान की यह प्रक्रिया बडी ही सरस एव प्रभावोत्पादक है।

प्रश्न – नवकार के नव पदो से अक्षय अंक की ध्वनि सूचित होती है। यह ध्वनि प्रगट करती है कि जिस प्रकार नव का अक अक्षय है अखण्डित है उसी प्रकार नवपदात्मक नवकार की साधना करने वाला साधक भी अक्षय अजर एव अमर पद प्राप्त कर लेता है। क्या इसके अतिरिक्त दूसरी भी कोई ध्वनि नव के अङ्क से सूचित होती है।

उत्तर – हा होती है। नव के पहाडे की गिनती मे ९ का अक मूल है। तदनतर क्रमश ८ २७ ६ ४५ ५४ ६३ ७२ ८१ ९० के अक हैं। इस पर से यह भाव ध्वनित होता है कि आत्मा के पूर्ण विशुद्ध रूप का प्रतीक ९ का अक है, जो कभी खडित नहीं होता। आगे के अकों मे दो-दो अक हैं। उनमे पहला अक शुद्धि का और दूसरा अक अशुद्धि का प्रतीक है। समस्त ससार के अबोध प्राणी १८ के अक की दशा मे है। उनमे विशुद्धि का मात्र एक छोटा सा अश है और अशुद्धि आठ हिस्सा है। यहा से साधना का जीवन शुरू होता है। थोडी-सी साधना के पश्चात् आत्मा को २७ के अक का स्वरूप मिल जाता है। भाव यह है कि शुद्धि के क्षेत्र में एक अश और बढ जाता है, और उधर अशुद्धि मे

एक अंश कम होकर मात्र ७ अंश रह जाती है। आगे चल कर ज्यों-ज्यों साधना लम्बी होती जाती है त्यों-त्यों शुद्धि के अंश बढ़ते जाते हैं और अशुद्धि के अंश कम होते जाते हैं। अन्त में जबकि साधना पूर्ण रूप में पहुँचती है तो शुद्धि का क्षेत्र पूर्ण हो जाता है और उधर अशुद्धि के लिए मात्र शून्य रह जाता है। संसार में १० का अंक हमारे सामने यह आदर्श रखता है कि साधना के पूर्ण हो जाने पर साधक की आत्मा पूर्ण विशुद्ध हो जाती है। उसमें अशुद्धि का एक लघु अंश नाम मात्र के लिए भी नहीं होता। अशुद्धि के सर्वथा अभाव का प्रतीक १० के अंक में १ के आगे का शून्य है। नवकार महामन्त्र की शुद्ध हृदय से साधना करनेवाला साधक भी १ के पहाड़े के समान विकसित होता हुआ अन्त में १० के रूप में अर्थात् सिद्ध रूप में पहुँच जाता है जहाँ आत्मा में मात्र अपना निजी शुद्ध रूप ही रह जाता है कर्मों का अशुद्ध अंश सदा के लिए पूर्णतया नष्ट हो जाता है— कर्मबद्धो भवेज्जीवः कर्ममुक्तस्तथा शिवः। पूर्ण शुद्ध दशा में जीव शिव बन जाता है अर्थात् आत्मा परमात्मा बन जाती है।

● ○

नष्ट करने वाले। क्रोध मान माया लोभ, राग द्वेष आदि विकार ही आत्मा के वास्तविक शत्रु हैं इन्हीं के द्वारा बाह्य जगत के स्थूल शत्रु उत्पन्न होते हैं। अतः जो इन शत्रुओं को पराजित कर आत्म-विशुद्धि का पूर्ण साक्षात्कार करके केवलज्ञान प्राप्त करता है वह अरिहन्त पद के गौरवशाली पद पर पहुँचता है।

२ सिद्ध—जो आत्मा कर्म मल से सर्वथा मुक्त होकर मोक्ष दशा में पहुँच जाते हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। मोक्ष दशा में आत्मा शरीर से रहित होता है। कोई भी आधि व्याधि उसको नहीं होती। केवल ज्ञान की ज्योति का पूर्ण प्रकाश वहाँ अनन्तकाल के लिए जगमगाता रहता है आध्यात्मिक गुणों का प्रवाह आत्मा में बहता रहता है। मोक्ष दशा को पाकर फिर कभी जन्म मरण के फंदे में आत्मा नहीं फँसता। अस्तु अरिहन्त पद के बाद शरीर को छोड़ कर जो आत्मा सिद्ध-पूर्ण हो जाते हैं वे सिद्ध हैं।

३ आचार्य—जो धार्मिक आचारों का और नियमों का स्वयं पालन करते हैं, दूसरे से कराते हैं आचार पद्धति से पतित होने वाले दुर्बल व्यक्तियों का धर्म-बोध के द्वारा उद्धार करते हैं। उन को आचार्य कहते हैं। आचार्य साधु संघ के नायक होते हैं धर्म की रक्षा का भार उनके कंधों पर होता है। पूर्ण न्याय-नीति के साथ वे सत्य धर्म की ध्वजा संसार में फरकाते हैं।

४ उपाध्याय—जो स्वयं ज्ञान का अभ्यास पूर्णरूप से करते हैं और दूसरों को भी योग्यतानुसार ज्ञान-ध्यान कराते हैं, सत्य का महत्व समझते हैं, धर्म-ग्रन्थों के मर्म व मर्म रहस्य निकाल कर संसार के समक्ष रखते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं। उपाध्याय का पद बड़ा ही ऊँचा है। आध्यात्मिक शिक्षा देने का भार कुछ मामूली नहीं होता। ज्ञान दान का देना अन्यों को आँख देने से भी कहीं बढ़ कर है।

५ साधु—पाँचवाँ पद साधु का है। साधु वह है जो साधना करता है, अन्तरात्मा पर अंकुश रखता है, वासनाओं के जाल में नहीं फँसता है। साधु के पाँच महाव्रत—पूर्णअहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्णअस्तेय, पूर्णब्रह्मचर्य और पूर्णअपरिग्रह हैं। जो पाँच महाव्रतों का मन, वचन और शरीर के द्वारा पूर्णतया पालन करने का प्रयत्न करता है वही सच्चा साधु है।

ज्ञान और क्रिया—दोनों का बराबर सन्तुलन बनाए रखना साधु का परम कर्त्तव्य है। ज्ञानशून्य क्रियाकांड किसी काम का नहीं। और इसी प्रकार आचरणशून्य ज्ञान केवल मस्तिष्क में भार ही है। साधु जीवन त्याग और वैराग्य के आदर्श का एक महान् ज्वलन्त प्रतीक होता है।

उपर्युक्त पाँचों पदों को दो विभागों में विभक्त किया जाता है—एक देव और दूसरा गुरु। अरिहन्त और सिद्ध आत्मविकास की पूर्णता पर पहुँचे हुए हैं। अतः पूर्णतया दिव्य रूप होने से देव

आचार्यों ने द्वादशाग-वाणी का वर्णन करते हुए प्रत्येक की पद सख्या तथा समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरों की सख्या का वर्णन किया है। इस महामत्र में समस्त श्रुतज्ञान विद्यमान है। क्योंकि पचपरमेष्ठी के अतिरिक्त अन्य श्रुतज्ञान कुछ नहीं है। अत यह महामत्र समस्त द्वादशाग वाणी का सार है।

इस लोक में जितने भी अध्यात्म-योगियों ने मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त किया है, उन सबों ने श्रुतज्ञान रूप इस महामन्त्र की आराधना से ही किया है। समस्त जिनवाणी रूप इस महामत्र की महिमा एव इसका तत्काल होने वाला अमिट प्रभाव योगी जनों के भी अगोचर है। वे इसके वास्तविक प्रभाव का निरूपण करने में असमर्थ हैं। जो साधारण व्यक्ति इस श्रुतज्ञान-रूप मत्र का प्रभाव कहना चाहता है, वह कथमपि सम्भव नहीं है। इस नवकार मत्र का प्रभाव केवली ही जानने मे समर्थ हैं। जो प्राणी पाप से मलिन हैं, वे इसी मत्र से विशुद्ध होते हैं और इसी मत्र के प्रभाव से आराधक होकर ससार के क्लेशों से मुक्त होते हैं।"--

स्वाध्याय और ध्यान का जितना सम्बन्ध साथ है, उतना ही इस मत्र का सम्बन्ध भी

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रश्न विचारणीय है कि नवकार मंत्र का मन पर क्या प्रभाव पड़ता है? आत्मिक शक्ति का विकास किस प्रकार होता है जिससे इस मंत्र को समस्त कार्यों में सिद्धि देने वाला कहा गया है। मनोविज्ञान मानता है कि मानव की दृश्य क्रियाएं उसके चेतन मन में और अदृश्य क्रियाएं अचेतन मन में होती हैं। मन की इन दोनों क्रियाओं को मनोवृत्ति कहा जाता है। मनोवृत्ति शब्द चेतन मन की क्रिया के बोध के लिए प्रयुक्त होता है। प्रत्येक मनोवृत्ति के तीन पहलू हैं—ज्ञान वेदना और क्रिया। मनोवृत्ति के ये तीनों पहलू एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते हैं। मनुष्य को जो कुछ ज्ञान होता है उसके साथ साथ वेदना और क्रिया की भी अनुभूति होती है। ज्ञान-रूप मनोवृत्ति के संवेदन प्रत्यक्षीकरण स्मरण कल्पना और विचार—ये पाँच भेद हैं। संवेदना के संवेग उत्साह, स्थायी भाव और भावना—ये चार भेद हैं एवं क्रिया मनोवृत्ति के सहज क्रिया मूलवृत्ति स्वभाव इच्छितक्रिया और चरित्र—ये पाँच भेद किए गए हैं। नवकार मंत्र के स्मरण से ज्ञान-रूप मनोवृत्ति उत्तेजित होती है जिससे उससे अभिन्न रूप में सम्बद्ध रहने वाली उत्साह वेदना अनुभूति और चरित्र नामक क्रिया अनुभूति

को उत्तेजना मिलती है। अभिप्राय यह है कि मानव मस्तिष्क में ज्ञानवाही और क्रियावाही—ये दो प्रकार की नाड़ियाँ होती हैं। इन दोनों नाड़ियों का संगम मेरुदण्ड होता है परन्तु इन दोनों के केन्द्र अलग हैं। ज्ञानवाही नाड़ियाँ और मस्तिष्क के ज्ञान केन्द्र मानव के ज्ञान विकास में तथा क्रियावाही नाड़ियाँ और मानव मस्तिष्क के क्रिया-केन्द्र उसके चरित्र के विकास की वृद्धि के लिए कार्य करते हैं। क्रिया-केन्द्र और ज्ञान केन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण नवकार मंत्र की आराधना स्मरण और चिन्तन से ज्ञान-केन्द्र और क्रिया-केन्द्रों का समन्वय होने से मानव मन दृढ़ एवं सबल होता है और आत्मिकविकास की प्रेरणा मिलती है।

व्यक्ति के मन में जब तक किसी सुन्दर आदर्श के प्रति या किसी महान् व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रेम के स्थायीभाव नहीं होते हैं तब तक दुराचार से हटकर सदाचार में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। केवल जानकारी से ही दुराचार नहीं रोका जा सकता है इसलिए उच्च आदर्शों के प्रति श्रद्धा भावना का होना अनिवार्य है। नवकार मंत्र ऐसा पवित्र उत्कृष्ट आदर्श है जिससे स्थायीभाव की उत्पत्ति होती है। अतः नवकार मंत्र का मन पर जब बार-बार प्रभाव पड़ेगा—अधिक समय तक इस महामंत्र की भावना जब मन में बनी रहेगी तब स्थायी भावों में परिष्कार हो ही जाएगा और ये ही नियन्त्रित स्थायी भाव मानव के चरित्र के विकास में सहायक होंगे।

इस मन्त्र की आराधना करके व्यक्ति जीवन में सतोष की भावना को जागृत करे तथा समस्त सुखों का केन्द्र इसी को समझे। अभ्यास नियम का तात्पर्य है कि इस मन्त्र का मनन चिन्तन और स्मरण निरन्तर करता जाए। यह सिद्धान्त है कि जिस योग्यता को अपने भीतर प्रकट करना हो उस योग्यता का बार बार चिंतन स्मरण किया जाए। प्रत्येक व्यक्ति का चरम लक्ष्य—ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य-रूप शुद्ध आत्मशक्ति को प्राप्त करना है। इस मन्त्र के अभ्यास से शुद्ध आत्मस्वरूप में तत्परता के साथ प्रवृत्ति करना ही जीवन में शुद्धि के नियम को प्राप्त करना है। मनुष्य में अनुकरण की प्रधान प्रवृत्ति पायी जाती है इसी प्रवृत्ति के कारण पच परमेष्ठी का आदर्श सामने रख कर उनके अनुकरण से व्यक्ति अपना विकास कर सकता है।

● ●

बार जगाने के समान है। जिस प्रकार जब मंत्र सिद्ध हो जाता है तो आत्मिकशक्ति से आकृष्ट देवता मांत्रिक के समक्ष अपना आत्मार्पण कर देता है और उस देवता की सारी शक्ति उस मांत्रिक में आ जाती है। साधक मंत्र और उनकी ध्वनियों के घर्षण से अपने भीतर आत्मिक शक्ति का आविष्कार करता है। मंत्र से प्रसुप्त शक्ति जागृत होती है।

मनुष्य अनुचित गुण प्राप्त करने की चेष्टा करता है किन्तु विश्व के अशान्त वातावरण के कारण उसे एक क्षण को भी शान्ति नहीं मिलती है। विद्वानों का कथन है कि चित्तवृत्तियों का निरोध कर लेने पर व्यक्ति को शान्ति प्राप्त हो सकती है। चित्तवृत्ति का निरोध करने के लिए योग का वर्णन किया गया है। आत्मा का स्वरूप-साधन एवं विकास योग-साधना पर अवलम्बित है। योग-बल से सिद्धि की प्राप्ति होती है तथा पूर्ण अहिंसा शक्ति की प्राप्ति द्वारा संचित कर्ममल दूर कर निर्वाण प्राप्त किया जाता है। साधारण ऋद्धि सिद्धियाँ तो शुद्ध ध्यान करने वालों के चरणों में लोटती हैं। योग-साधना करने वाले को शरीर तथा मन पर अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य को चित्त की चंचलता के कारण ही अशान्ति का अनुभव करना पड़ता है क्योंकि अनावश्यक संकल्प विकल्प ही दुःखों के कारण हैं। मोहजन्य वासनाएं मानव के हृदय का मंथन कर विषयों की ओर प्रेरित करती हैं, जिससे व्यक्ति के जीवन में अशान्ति का सूत्रपात होता है। विद्वानों ने इस

अशांति को रोकने के उपायों का वर्णन करते हुए बतलाया है कि मन की चंचलता पर आधिपत्य कर लिया जाए, तो चित्त की वृत्तियों का इधर उधर जाना रुक जाता है अतएव व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का एक साधन योगाभ्यास भी है। साधक मन वचन और काय की चंचलता को रोकने के लिए गुप्ति और समितियों का पालन करते हैं। यह प्रक्रिया भी योग के अन्तर्गत है। कारण स्पष्ट है कि चित्त की एकाग्रता समस्त शक्तियों को एक केन्द्रगामी बनाने तथा साध्य तक पहुँचाने में समर्थ है। जीवन में पूर्ण सफलता इसी शक्ति के द्वारा प्राप्त होती है।

योग शास्त्र के इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि जैन-ग्रन्थों में योग के अर्थ में प्रधानतया ध्यान शब्द का प्रयोग हुआ है। ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदि का विस्तृत वर्णन अंग और अंग-बाह्य ग्रंथों में मिलता है। आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान का वर्णन किया है। इस ग्रंथ के टीकाकारों ने अपनी-अपनी टीकाओं में ध्यान पर बहुत कुछ विचार किया है। ध्यानसार और योगप्रदीप में योग पर पूरा प्रकाश डाला गया है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में योग पर पर्याप्त लिखा है। इसके अतिरिक्त आचार्य हरिभद्रसूरि ने नयी शैली में योगविद्या पर बहुत लिखा है। इनके रचे हुए योग बिन्दु योग दृष्टि समुच्चय योगविंशिका योग शतक और षोडशक ग्रंथ हैं। इन्होंने जैन दृष्टि से योग-शास्त्र का वर्णन करके पातंजल

मनुष्य अनुरि न गुण प्राप्त करने की चेष्टा करता है किन्तु विश्व के अशान्त वातावरण के कारण उसे एक क्षण को भी शान्ति नहीं मिलती है। विद्वानों का कथन है कि चित्तवृत्तियों का निरोध कर लेने पर व्यक्ति को शान्ति प्राप्त हो सकती है। चित्तवृत्ति का निरोध करने के लिए योग का वर्णन किया गया है। आत्मा का उत्कर्ष-साधन एवं विकास योग-साधना पर अवलम्बित है। योग-बल से सिद्धि की प्राप्ति होती है तथा पूर्ण अहिंसा शक्ति की प्राप्ति द्वारा संचित कर्ममल दूर कर निर्वाण प्राप्त किया जाता है। साधारण ऋद्धि सिद्धियाँ तो शुद्ध ध्यान करने वालों के चरणों में लोटती हैं। योग-साधना करने वाले को शरीर तथा मन पर अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य को चित्त की चंचलता के कारण ही अशान्ति का अनुभव करना पड़ता है क्योंकि अनावश्यक संकल्प विकल्प ही दुःखों के कारण हैं। मोहजन्य वासनाएं मानव के हृदय का मन्थन कर विषयों की ओर प्रेरित करती हैं जिससे व्यक्ति के जीवन में अशान्ति का सूत्रपात होता है। विद्वानों ने ऐ

अशान्ति को रोकने के उपायों का वर्णन करते हुए बतलाया है कि मन की चंचलता पर आधिपत्य कर लिया जाए, तो चित्त की वृत्तियों का इधर उधर जाना रुक जाता है अतएव व्यक्ति की शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का एक साधन योगाभ्यास भी है। साधक मन वचन और काय की चंचलता को रोकने के लिए गुप्ति और समितियों का पालन करते हैं। यह प्रक्रिया भी योग के अन्तर्गत है। कारण स्पष्ट है कि चित्त की एकाग्रता समस्त शक्तियों को एक केन्द्रगामी बनाने तथा साध्य तक पहुंचाने में समर्थ है। जीवन में पूर्ण सफलता इसी शक्ति के द्वारा प्राप्त होती है।

योग शास्त्र के इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि जैन-परंपरा में योग के अर्थ में प्रधानतया ध्यान शब्द का प्रयोग हुआ है। ध्यान के लक्षण भेद प्रभेद आलम्बन आदि का विस्तृत वर्णन अंग और अंग-बाह्य ग्रंथों में मिलता है। आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान का वर्णन किया है। इस ग्रंथ के टीकाकारों ने अपनी-अपनी टीकाओं में ध्यान पर बहुत कुछ विचार किया है। ध्यानसार और योगप्रदीप में योग पर पूरा प्रकाश डाला गया है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में योग पर पर्याप्त लिखा है। इसके अतिरिक्त आचार्य हरिभद्रसूरि ने नयी शैली में योगविद्या पर बहुत लिखा है। इनके रचे हुए योग बिन्दु योग दृष्टि समुच्चय योगविंशिका योग-शतक और षोडशक ग्रंथ हैं। इन्होंने जैन दृष्टि से योग-शास्त्र का वर्णन करके पातंजल

योग-शास्त्र की अनेक बातों की तुलना जैन-योग के साथ की है। योग दृष्टि समुच्चय में योग की आठ दृष्टियों का कथन है जिससे समस्त योग साहित्य में एक नवीन दिशा प्रदर्शित की गई है। हेमचन्द्राचार्य ने आठ योगांगों का जैन-शैली के अनुसार वर्णन किया है तथा प्राणायाम से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातें कही हैं।

हरिभद्रसूरि ने मोक्ष प्राप्त करने वाले साधन का नाम योग कहा है। पतंजलि ने अपने योग शास्त्र में – चित्तवृत्ति का रोकना योग बताया है। इन दोनों लक्षणों का समन्वय करने पर फलित यह निकलता है कि जिस क्रिया या व्यापार के द्वारा संसारोन्मुख वृत्तियाँ रुक जाएं और मोक्ष की प्राप्ति हो, वह योग है। अतएव समस्त आत्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास करने वाली क्रिया—आत्मोन्मुख चेष्टा योग है। योग के आठ अंग माने जाते हैं—यम, नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। इन योगांगों के अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है।

शुभचन्द्राचार्य ने बतलाया है— जिसने समाधि का अभ्यास किया है जो परिग्रह और ममता से रहित है वह मुनि ही अपने मन को रागादि से निम्न करता तथा वश करने में समर्थ होता है। निःसन्देह मन की शुद्धि से ही जीवन की शुद्धि होती है मन की शुद्धि के बिना शरीर को क्षीण करना व्यर्थ है। मन की शुद्धि से इस प्रकार का ध्यान होता है जिससे कर्मबन्ध कट जाता है। एक मन का निरोध ही समस्त अभ्युदयों को प्राप्त कराने वाला है। मन

के स्थिर हुए बिना आत्म स्वरूप में लीन होना कठिन है। अतएव योगांग का प्रयोग मन को स्थिर करने के लिए अवश्य करना चाहिए। वह एक ऐसा साधन है जिससे मन को स्थिर करने में सबसे अधिक सहायता मिलती है।

• •

नवाक्षरी मत्र—ओम् ह्रीं अर्हम् नम क्षीं स्वाहा।

विधि—पहले नौ बार नवकार मत्र पढ़कर बाद में इस मत्र की नौ मालाए फेरे। निरतर इक्कीस दिन तक जप करते है सब प्रकार का राज सम्बन्धी या अन्य सभी तरह का सकट दूर हो जाता है।

प्रेमभाव-वर्द्धक मत्र- ओम् ऐं ह्रीं नमो लोए सव्वसाहूणं

विधि—पूर्व दिशा की ओर मुख करके इस मत्र का जप करे। एक बार मत्र का जप करे और नए कपड़े में एक गाँठ लगा दे। इस प्रकार एक-सौ आठ बार जप करे और नए कपड़े में एक सौ आठ गाँठ लगा दे। ऐसा करने से घर, में परिवार में किसी के साथ कलह या-अनबन हो तो सब क्लेश शान्त हो जाता है। आपस में प्रेम भाव बढ़ जाता है।

सर्व-कार्य-साधक मंत्र—ओम ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असिआउसा स्वाहा।

विधि—इस मत्र का सवालाख जाप निरतर बीच में अन्तराय डाले बिना करने से मन चिंतित सब कार्यों की सिद्धि

हो जाती है। यह मंत्र दरिद्रता और गरीबी का नाश करने वाला है। उत्तर दिशा की ओर मुख कर के एक बार भोजन और ब्रह्मचर्य के सहित इक्कीस दिन में सवा लाख जप करने से यह मंत्र सब कार्यों की सिद्धि करता है।

ऐश्वर्यदायक मंत्र - ओम ह्रीं वरे सवरे असिआउसा नम।

विधि—इस मंत्र का एकांत स्थान में प्रतिदिन सुबह दुपहर और शाम को एक सौ आठ जप करने से अर्थात्—तीनों काल में एक एक माला करके तीन माला फेरने से सब प्रकार की संपत्ति लक्ष्मी और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। किसी भी पद प्राप्ति की उन्नति के लिए इसका जप किया जा सकता है।

रोग निवारक मंत्र—ओम नमो सव्वोसहि-पत्ताण ओम् नमो खेलोसहिपत्ताण ओम् नमो जलोसहिपत्ताण ओम् नमो सव्वोसहिपत्ताण स्वाहा।

विधि—इस मंत्र की प्रतिदिन एक माला फेरने से सब प्रकार के रोगों की पीडा शान्त हो जाती है। रोगी का कष्ट कम हो जाता है।

मंगल मंत्र—ओम् अ सि आ उ-सा नम

विधि—इस मंत्र का सूर्योदय के समय सूर्य की ओर मुख करके एक-सौ बार जप करने से गृह-कलह दूर होता है शांति होती है और धन संपत्ति की प्राप्ति होती है।

द्रव्य प्राप्तिमंत्र—ओम ह्रीं णमो अरिहंताणं सिद्धाणं आयरियाणं उवज्झायाणं साहूणं मम ऋद्धि-वृद्धि समीहितं कुरु-कुरु स्वाहा ।

विधि—इस मंत्र का नित्य प्रातः काल मध्याह्न और सायं काल को प्रत्येक समय में बत्तीस बार मन में ही ध्यान करे। सब प्रकार की सुख समृद्धि धन का लाभ और कल्याण प्राप्त होता है।

सप्ताक्षरी मंत्र—ओम ह्रीं श्रीं अर्हं नमः ।

विधि—यह बहुत प्राचीन और प्रभावशाली मंत्र है। सब प्रकार के सुख सम्पत्ति और मनोरथ इससे पूर्ण हो जाते हैं।

० ०

१

अरिहंता मज्झ मंगल, अरिहंतामज्झ देवया।
अरिहंते कित्तइत्ताण वोसिरामित्ति पावग ॥१॥
सिद्धा य मज्झ मगल सिद्धा य मज्झ देवया।
सिद्धे य कित्तइत्ताण वोसिरामित्ति पावग ॥२॥

आयरिया मज्झ मंगल, आयरिया मज्झ देवया।
आयरिए कित्तइत्ताण वोसिरामित्ति पावग ॥३॥
उवज्झाया मज्झ मंगल उवज्झाया मज्झ देवया।
उवज्झाए कित्तइत्ताण वोसिरामित्ति पावग ॥४॥

साहू य मज्झ मंगल साहू य मज्झ देवया।
साहू य कित्तइत्ताण वोसिरामित्ति पावग ॥५॥
एए पंच मज्झ मंगल एए पंच मज्झ देवया।
एए पंच कित्तइत्ताण, वोसिरामित्ति पावग ॥६॥

२

उप्पन्न सन्नाण महोमयाणं
पण्णाइहेरासण सठियाण।
सद्देसणा-णंदिय सज्जणाणं
नमो नमो होउ सया जिणाणं ॥१॥

३

अरिहंत-नमोक्कारो जीव मोयइ भव-सहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो होइ पुणो वोहिलाभाए ॥१॥
अरिहंत नमोक्कारो, सव्व पाव - प्पणासणो ।
मगलाण च सव्वेसिं पढम हवइ मगल ॥२॥

सिद्धाण नमोक्कारो, जीव मोयइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो होइ पुणो वोहिलाभाए । ३ ।
सिद्धाण नमोक्कारो सव्व पाव - प्पणासणो ।
मगलाण च सव्वेसिं बीय हवइ मगल ॥

आयरिय-नमोक्कारो जीव मोयइ भव सहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो वोहिलाभाए । ५॥
आयरिय-नमोक्कारो सव्व-पाव प्पणासणो ।
मगलाण च सव्वेसिं तइय हवइ मगल ॥६॥

उवज्झाय नमोक्कारो जीव मोयइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो होइ पुणो वोहिलाभाए । ७॥
उवज्झाय-नमोक्कारो सव्व पाव प्पणासणो ।
मगलाण च सव्वेसिं चउत्थ हवइ मगल ॥८॥

साहूण नमोक्कारो जीव मोयइ भव सहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो होइ पुणो वोहि-लाभाए ॥९॥
साहूण नमोक्कारो सव्व - पाव प्पणासणो ।
मगलाण च सव्वेसिं पचम हवइ मगल ॥१०॥

५

नम्रामरेश्वर किरीट निविष्ट - शोण
रत्नप्रभा-पटल पाटलिताङ्घ्रिपीठा ।
तीर्थेश्वरा शिवपुरी-पथ-सार्थवाहा,
निःशेष वस्तु परमार्थविदो जयन्ति ॥१॥

लोकाग्र भाग भवना भवभीति-मुक्ता,
ज्ञानावलोकित समस्त पदार्थ सार्था ।
स्वाभाविकस्थिर विशिष्टसुख समृद्धा,
सिद्धा विलीनघनकर्ममला जयन्ति ॥२॥

आचार - पञ्चक समाचरण प्रवीणा
सर्वज्ञ शासन धरकधुरधरा ये ।
ते सूरयो दमित—दुर्दम वादि वृन्दा
विश्वोपकार करण प्रवणा जयन्ति ॥३॥

सूत्र यतीनतिपटु स्फुट युक्तियुक्त
युक्ति प्रमाण नय भङ्गगमगभीरम् ।
ये पाठयन्ति वरसूरिपदस्य योग्यास्
ते वाचकाश्चतुरचारुगिरो जयन्ति ॥४॥

सिद्धांगनासुखसमागम बद्ध वाञ्छा
संसार - सागर - समुत्तरणक - चित्ता ।
ज्ञानादिभूषण विभूषित देहभागा,
रागादि - घातरतयो यतयो जयन्ति ॥५॥

६।

जय जय जय जयकार परमेष्ठी
जय जय भविजन योग विधाता
जय जय आतम शुद्धि विधाता।
जय भव भजनहार परमेष्ठी ॥जय०
जय सब संकट चूरणकर्त्ता
जय सब आशा पूरणकर्त्ता।
जय जय मगलकार परमेष्ठी ॥जय०
तेरा जाप जिन्होंने कीना
परमानन्द उन्होंने लीना।
कर गए सेवा पार परमेष्ठी ॥जय०
लीना शरना सेठ सुदर्शन
सूली से बन गया सिंहासन।
जय जय करें नर-नार परमेष्ठी ॥जय०
द्रौपदी चीर सभा में हरना
तब तेरा ही लीना शरना।
बढ गया चीर अपार परमेष्ठी ॥जय०
सोमा ने तुम सुमिरन कीना
सर्प फूलमाला कर दीना।
वर्ते मगलाचार परमेष्ठी ॥जय०
अमर शरण में सम्प्रति आया
कर्मों के दुःख से

—ो ॥जय०